हिन्दी आलोचना
स्वरूप एवं प्रकार

(Hindi Criticism: Nature and Type)

प्रेम लता

हिन्दी आलोचना : स्वरूप एवं प्रकार

हिन्दी आलोचना : स्वरूप एवं प्रकार

(Hindi Criticism : Nature and Type)

प्रेम लता

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5478-9

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली – 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिंदी की विभिन्न विधाओं की तरह आलोचना का विकास भी प्रमुख रूप से आधुनिक काल की देन है। किसी भी साहित्य के आलोचना के विकास की दो प्रमुख शर्तें हैं–पहली कि आलोचना रचनात्मक साहित्य से जुड़ती हो और दूसरी कि वह समकालीन साहित्य से जुड़ती हो। हिंदी आलोचना अपने प्रस्थान बिंदु से ही इन दोनों कसौटियों पर खरी उतरती है आधुनिक काल से पहले आलोचना का स्वरूप प्रमुखतया संस्कृत काव्यशास्त्र की पुनरावृत्ति हुआ करती थी, लेकिन आज जो हिंदी आलोचना का स्वरूप है उसका आरम्भ आधुनिक हिंदी साहित्य के साथ या यों कहा जाय कि साहित्य में आधुनिक दृष्टि के साथ ही साथ हुआ है।

हिंदी आलोचना का इतिहास रीतिकाल से थोड़ा पहले शुरू होता है। ऐसा माना जाता है कि 'हिततरंगिणी' के लेखक कृपाराम हिंदी के पहले काव्यशास्त्री थे। लेकिन हिन्दी में 'काव्य रीति' का सम्यक समावेश सबसे पहले आचार्य केशव ने ही किया, जिसका अनुकरण परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों और लक्षणकारों ने किया। हिंदी में वार्ता–ग्रंथों, भक्तमालों और उनके टीका–ग्रंथों के रूप में आलोचना की जो प्राचीन परंपरा मिलती है, वह निःसंदेह हिंदी आलोचना का प्रवेश द्वार है, लेकिन आचार्यत्व और कवित्व के एकीकरण के इस दौर में आलोचना लक्षण, उदाहरण और टीकाओं तक ही सीमित थी।

नयी कविता के दौर में भी देखते है, जहाँ रचनाओं के मूल्यांकन की प्रक्रिया में हिंदी आलोचना में कुछ अवधारणात्मक शब्द जैसे आधुनिकता, प्रयोगशीलता, प्रगतिशीलता, प्रतिबद्धता, भोग हुआ यथार्थ, लघु मानव, अनुभूति की प्रमाणिकता, अद्वितीय क्षण, व्यक्ति सत्य, मानव मूल्य, विसंगति, विडंबना, तनाव, ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान, सचेतनता, व्यापकता और गहराई, ईमानदारी समझदारी, बिम्ब और सपाटबयानी विकसित होते गए है। जब नयी कविता और उसके बाद की कविता में अर्थ की परत सघनतर होती है, अभिव्यक्ति सूक्ष्मतर होती जाती है तो आलोचना भी व्याख्या और निर्णय से आगे बढ़कर रचना के अर्थ-संवर्धन को अपना दायित्व मानती है। संक्षेप में और आचार्य शुक्ल के शब्दों को उधार लेकर कहा जा सकता है हिंदी आलोचना अपने स्वरूप और संकल्पना में 'साहित्येतर' और 'उपयोगिता' कसौटी को स्वीकार नहीं करती है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

प्रस्तावना *v*

1. हिंदी आलोचना-स्वरूप और विकास **1**

हिंदी आलोचना: स्वरूप और संकल्पना 1

हिंदी आलोचना का विकास क्रम 3

भारतेंदु युग 3

द्विवेदी युग 4

अध्यापकीय आलोचना 5

शुक्लोतर हिंदी आलोचना 6

प्रगतिवादी आलोचना 8

आलोचना के प्रकार 14

हिंदी आलोचना-विविध वाद 18

मनोविश्लेषणवाद 22

आधुनिकतावाद 24

उत्तर संरचनावाद 26

हिन्दी आलोचना - उद्‌भव और विकास 28

सैद्धान्तिक आलोचना 36

आलोचना की संस्कृति और आचार्य रामचंद्र शुक्ल 37

2. हिन्दी नाटककार **52**
हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र 53
प्रेरणा-स्रोत 55
साहित्यिक प्रेरणा 55
भारतेन्दु के पश्चात् 56
बीसवीं शताब्दी 56
स्वतंत्रता के पश्चात 57
प्रमुख हिन्दी नाटककार 58
जीवन परिचय 59
प्रमुख कृतियाँ 60
प्रमुख निबंध 61
महत्त्वपूर्ण कार्यत्व 66
साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास 68
जयशंकर प्रसाद 71
जीवन परिचय 72
कृतियाँ 73
कहानी 74
कहानी संग्रह 74
कृतियाँ 78
जगदीशचंद्र माथुर 80
प्रमुख कृतियाँ 82
समालोचना 82
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना 83
जीवन परिचय 84
सर्वेश्वर का रचना संसार 84
मोहन राकेश 88
नाट्य-लेखन 88
प्रमुख कृतियाँ 90
आखिरी चट्टान 90
3. हिन्दी आलोचना में कबीर **94**
कबीर सम्बन्धी हिन्दी आलोचना का परिदृश्य 94

रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि में कबीर 96
हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि में कबीर 99
परवर्ती आलोचना में कबीर 101
4. भारतेन्दु-युग 105
भारतेन्दु मण्डल 106
भारतेन्दुकालीन कथा 106
उपन्यास 106
कहानी 106
निबन्ध 107
आलोचना 107
5. नवजागरणयुगीन हिंदी आलोचना और बालकृष्ण भट्ट 125
6. द्विवेदी युग 135
महावीर प्रसाद द्विवेदी 136
नामकरण 142
द्विवेदीजी का योगदान 142
नाट्य साहित्य 143
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' 152
सर्वाधिक प्रसिद्धि 153
प्रियप्रवास 153
अन्य साहित्यिक कृतित्व 154
विरासत 154
जीवन परिचय 158
शिक्षा 158
जीविकोपार्जन 158
लेखन कार्य 159
कवित्त 159
भाषा-शैली 161
कृतियाँ 161
हिन्दी साहित्य निर्माता 163
साहित्यिक विशेषताएँ 164

निधन 165
रामनरेश त्रिपाठी 165
साहित्य साधना की शुरुआत 166
स्वच्छन्दतावादी कवि 167
कृतियाँ 169
रचनाएँ 169

1

हिंदी आलोचना-स्वरूप और विकास

हिंदी की विभिन्न विधाओं की तरह आलोचना का विकास भी प्रमुख रूप से आधुनिक काल की देन है। किसी भी साहित्य के आलोचना के विकास की दो प्रमुख शर्तें हैं-पहली कि आलोचना रचनात्मक साहित्य से जुड़ती हो और दूसरी कि वह समकालीन साहित्य से जुड़ती हो। हिंदी आलोचना अपने प्रस्थान बिंदु से ही इन दोनों कसौटियों पर खरी उतरती है आधुनिक काल से पहले आलोचना का स्वरूप प्रमुखतया संस्कृत काव्यशास्त्र की पुनरावृत्ति हुआ करती थी। लेकिन आज जो हिंदी आलोचना का स्वरूप है उसका आरम्भ आधुनिक हिंदी साहित्य के साथ या यों कहा जाय कि साहित्य में आधुनिक दृष्टि के साथ ही साथ हुआ है। हिंदी आलोचना संस्कृत के काव्यशास्त्रीय चिंतन की पृष्ठभूमि को स्वीकार करते हुए नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं और नवीन सामाजिक सरोकारों से टकराते हुए विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृत्तियों से युक्त होती चलती है।

हिंदी आलोचनाः स्वरूप और संकल्पना

संस्कृत काव्यशास्त्र की पुनरावृत्ति होने के कारण रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय विवेचन में न तो सूक्ष्म विश्लेषण और पर्यालोचन था और न ही मौलिकता ही

थी। इसमें काव्यशास्त्रीय रस तो विद्यमान था लेकिन सामाजिक संदर्भो में उभरते हुए जीवन काव्य का रस नहीं। कुल मिलाकर हिंदी आलोचना का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में हिंदी के विकास के समानांतर हुआ है। आधुनिक गद्य साहित्य के साथ ही हिंदी आलोचना का उदय भी भारतेंदु युग में हुआ। जिस प्रकार देश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं एवं विषमता बोध से लगाव के कारण इस काल का साहित्य विकसित हुआ उसी प्रकार आलोचना का भी संबंध यथार्थ बोध से हुआ और यह प्रतीत होने लगा कि रस किसी छंद में नहीं है बल्कि मानवीय संवेदना के विस्तार में है। हिंदी आलोचना की संकल्पना के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है, जिसकी ओर विश्वनाथ त्रिपाठी ने संकेत किया है, कि "हिंदी आलोचना पाश्चात्य की नकल पर नहीं, बल्कि अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्कयता के कारण जन्मी और विकसित हुई।" यही कारण है कि हिंदी आलोचना, रचनाशीलता की समानधर्मी रही है। हिंदी साहित्य की मुक्तिकामी चेतना के अनुकूल हिंदी आलोचना भी संस्कृत काव्यशास्त्र की आधार-भूमि से जुड़कर भी स्वाभाविक रूप से रीतिवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद, कलावाद और अभिजात्यवाद विरोधी और स्वच्छंदतावादी रही है। इसके साथ ही हिंदी आलोचना संस्कृत के शास्त्र सम्मत स्वरूप से इतर रचना को केंद्र में स्थापित करती है। रचना और आलोचना की समानधर्मिता या समांतरता को डॉ. राम विलास शर्मा के इस मंतव्य से समझा जा सकता है कि जो काम निराला ने काव्य में और प्रेमचंद ने उपन्यासों के माध्यम से किया, वही काम आचार्य शुक्ल ने आलोचना के माध्यम से किया। हिंदी आलोचना और रचना के गहरे संबंध का सुखद परिणाम यह होता है कि आलोचना या आलोचक अपने विवेचन या मूल्यांकन का परिष्कार रचना के बीच से करते है न कि शास्त्रवाद के साये में। यहीं प्रवृत्ति हम नयी कविता के दौर में भी देखते है, जहाँ रचनाओं के मूल्यांकन की प्रक्रिया में हिंदी आलोचना में कुछ अवधारणात्मक शब्द जैसे आधुनिकता, प्रयोगशीलता, प्रगतिशीलता, प्रतिबद्धता, भोग हुआ यथार्थ, लघु मानव, अनुभूति की प्रमाणिकता, अद्वितीय क्षण, व्यक्ति सत्य, मानव मूल्य, विसंगति, विडंबना, तनाव, ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान, सचेतनता, व्यापकता और गहराई, ईमानदारी समझदारी, बिम्ब और सपाटबयानी विकसित होते गए है। जब नयी कविता और उसके बाद की कविता में अर्थ की परत सघनतर होती है, अभिव्यक्ति सूक्ष्मतर होती जाती है तो आलोचना भी व्याख्या और निर्णय से आगे

बढ़कर रचना के अर्थ-संवर्धन को अपना दायित्व मानती है। संक्षेप में और आचार्य शुक्ल के शब्दों को उधार लेकर कहा जा सकता है हिंदी आलोचना अपने स्वरूप और संकल्पना में 'साहित्येतर' और 'उपयोगिता' कसौटी को स्वीकार नहीं करती है।

हिंदी आलोचना का विकास क्रम

हिंदी आलोचना का इतिहास रीतिकाल से थोड़ा पहले शुरू होता है। ऐसा माना जाता है कि 'हिततरंगिणी' के लेखक कृपाराम हिंदी के पहले काव्यशास्त्री थे। लेकिन हिन्दी में 'काव्य रीति' का सम्यक समावेश सबसे पहले आचार्य केशव ने ही किया, जिसका अनुकरण परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों और लक्षणकारों ने किया। हिंदी में वार्ता-ग्रंथों, भक्तमालों और उनके टीका-ग्रंथों के रूप में आलोचना की जो प्राचीन परंपरा मिलती है, वह निःसंदेह हिंदी आलोचना का प्रवेश द्वार है। लेकिन आचार्यत्व और कवित्व के एकीकरण के इस दौर में आलोचना लक्षण, उदाहरण और टीकाओं तक ही सीमित थी। हिंदी आलोचना के विकास को हम निम्न अवस्थाओं के अंतर्गत देख सकते हैं–

भारतेंदु युग

भारतेंदु काल में जैसे ही साहित्य रीतिकालीन अन्तःपुर के लीला-विनोद से निकलकर जन-समूह के हृदय के जन-पथ पर अग्रसर हुआ, हिंदी आलोचना भी अपने युगीन साहित्य को समझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के अनुरूप रीतिकालीन केंचुल को उतार कर एक नए चाल में ढल गई। इस युग के प्रमुख रचनाकार बालकृष्ण भट्ट ने "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है" सूत्र से साहित्य को परिभाषित किया तो हिंदी आलोचना भी उसके साथ होकर जन समूह की भावनाओं की सारथी बन गई। इस काल में आलोचना पत्र-पत्रिकाओं के लेखों, टिप्पणियों और निबंधों से विकसित हुई है। 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'भारत मित्र', 'सार सुधानिधि', 'ब्राह्मण', और 'आनंद कादंबिनी' जैसी पत्रिकाओं के लेखों में साहित्य और देश की समस्याओं पर सोचने-विचारने और समाधान निकालने की प्रक्रिया में इस युग की आलोचना दृष्टि विकसित हुई। इस युग में यदि नाटक प्रमुख साहित्यिक विधा थी तो आलोचना का प्रारंभ भी 'नाटक' के स्वरूप पर सैद्धांतिक विवेचन से हुआ। भारतेंदु ने अपने 'नाटक' विषयक लेख में नाटकों की प्रकृति,

समसामयिक जनरुचि और प्राचीन नाट्यशास्त्र की प्रासंगिकता पर विचार किया। इसलिए भारतेंदु को हिंदी साहित्य का प्रथम आलोचक माना जा सकता है।

भारतेंदु के कार्य को बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन'और बालकृष्ण भट्ट ने आगे बढाया। इस युग में किसी सम्पूर्ण कृति के गुण-दोषों की समीक्षा की शुरुआत 'प्रेमघन'और बालकृष्ण भट्ट के द्वारा की गई। प्रेमघन जी ने 'आनंद कादम्बिनी' के एक अंक में बाणभट्ट की 'कादंबरी' की प्रशंसात्मक आलोचना की और एक अन्य लेख में बाबू गदाधर सिंह द्वारा 'बंग-विजेता' नामक बांग्ला उपन्यास के हिंदी अनुवाद की आलोचना करते हुए उपन्यास के अंतरंग-बहिरंग दोनों पक्षों पर विचार किया है। प्रेमघन जी ने 'आनंद कादम्बिनी' में ही लाला श्री निवासदास कृत नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना की। 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना बालकृष्ण भट्ट ने भी 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से 'हिंदी प्रदीप'में की। भट्ट जी ने ऐतिहासिक आख्यानों के साहित्यिक उपयोग, देशकाल, पात्रों की स्वाभाविकता और रचना की जीवंतता के आधार पर आलोचना की।

द्विवेदी युग

भारतेंदु के बाद हिंदी आलोचना ही नहीं, सम्पूर्ण हिंदी साहित्य पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का सबसे अधिक प्रभाव रहा। आचार्य द्विवेदी हिंदी के प्रथम लोकवादी आचार्य थे और युग-बोध एवं नवीनता के पोषक थे। भारतेंदु से प्रवर्तित हुई हिंदी आलोचना में वैज्ञानिकता की परंपरा को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू श्यामसुन्दरदास ने नवीन ज्ञान-विज्ञान के आलोक में विकसित किया। आचार्य द्विवेदी ने जहाँ 'सरस्वती'पत्रिका के संपादन के द्वारा आलोचना की भाषा का रूप सुस्थिर किया, वहीं बाबू श्यामसुन्दरदास ने आलोचना के आवश्यक उपादान एकत्र किये, उन्हें व्यवस्थित और संयोजित किया। द्विवेदी युग में सैद्धांतिक और परिचयात्मक आलोचना के साथ-साथ तुलनात्मक, मूल्यांकनपरक, अन्वेषण और व्याख्यात्मक आलोचना की भी शुरुआत हुई। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य को "ज्ञान राशि के संचित कोष" के रूप में परिभाषित करते हुए ज्ञान की साधना पर विशेष बल दिया, जिसका रचनात्मक उपयोग साहित्य में तो हुआ ही, आलोचना में भी उपयोग किया गया। आचार्य द्विवेदी के 'कवि और कविता'और 'कविता तथा कवि-कर्त्तव्य' निबंधों में उनकी काव्य विषयक धारणाएं दृष्टिगत होती है। वे यथार्थ को काव्य के लिए आवश्यक मानते है।

द्विवेदी जी काव्य-भाषा के लिए अलंकारिता के विरुद्ध सहज, सरल और जन-साधारण की भाषा का समर्थन करते है और बोलचाल की हिंदी भाषा को आधुनिक साहित्य की भाषा घोषित किया।

द्विवेदी युग के अन्य प्रमुख आलोचक मिश्र बंधु, पं. पद्म सिंह शर्मा तथा पं. कृष्ण बिहारी मिश्र है। मिश्र बंधुओं को तुलनात्मक आलोचना का पुरस्कर्ता माना जाता है। उनके 'हिंदी नवरत्न' में नवरत्नों का चयन ही कवियों की परस्पर तुलना के द्वारा किया गया था। इन आलोचकों के बीच 'बिहारी और देव'में कौन श्रेष्ठ है, को लेकर कई चरणों में तुलनात्मक आलोचनाएं लिखी गईं। लेकिन मिश्र बंधुओं की दृष्टि रीतिकालीन संस्कारों से मुक्त नहीं पायी थी। कुल, मिलाकर द्विवेदी युगीन आलोचना इतिवृत्तात्मक और गुण-दोष कथन तक की सीमित रही।

अध्यापकीय आलोचना

अध्यापकीय आलोचना की शुरुआत भी द्विवेदी युग की ही देन है। विश्वविद्यालयों में कई शिक्षक अध्यापन के लिए आलोचनात्मक पुस्तक की कमी को पूरा करने के लिए इस दिशा में अग्रसर हुए। इन अध्यापकों में बाबू श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्थान अग्रणी है। बाबू श्यामसुंदरदास ने एम.ए. के पाठ्यक्रम के लिए 'साहित्यालोचन', 'रूपक-रहस्य' और 'भाषा-रहस्य' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। हिंदी आलोचना को आधुनिक और गंभीर साहित्यांग के रूप में विकसित करने का प्रयास करने वाला 'साहित्यालोचन' संभवतः प्रथम ग्रन्थ है। बाबू श्यामसुंदरदास शोधपरक आलोचना का भी विशिष्ट उदाहरण है।

शुक्ल युग

हिंदी आलोचना को आलोचना शास्त्र के रूप में व्यवस्थित, गाम्भीर्य और समृद्ध करने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। आचार्य शुक्ल ने सैद्धांतिक आलोचना को भारतीय साहित्य चिंतन परम्परा और पाश्चात्य साहित्य परम्परा के समन्वय से समृद्ध किया। उनकी आलोचना दृष्टि भारतेंदु युग की उसी सामाजिक-नैतिक चेतना से रूपाकार ग्रहण करती है, जिसका विकास रीतिवाद विरोधी अभियान के रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी में दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल ने निजी पसंद-नापसंद पर आधारित आलोचना को खारिज करके साहित्य के वस्तुवादी दृष्टिकोण का विकास किया। उन्होंने साहित्यिक आलोचना और

इतिहास के लिए साहित्येतर और उपयोगितावादी मानदंडों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास'और 'चिंतामणि' के निबंधों के साथ ही सूरदास, जायसी और तुलसीदास के काव्य के व्यवस्थित मूल्यांकन की प्रक्रिया में कुछ बीज शब्द गढ़े, जो आलोचनात्मक प्रतिमान के रूप में स्थापित हुए। 'कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद', हृदय की मुक्तावस्था, 'आनंद की साधनावस्था', 'आनंद की सिद्धावस्था', 'लोक-सामान्य', 'साधारणीकरण', 'लोकमंगल' आदि प्रतिमानों की स्थापना साहित्यिक समीक्षाओं के आधार पर करते है। इसलिए उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में संगति है। वे सूरदास को आनंद की सिद्धावस्था का कवि मानते है तो तुलसीदास को साधनावस्था का और जायसी के काव्य में 'प्रेम की पीर' की व्यंजना को महत्त्व देते है। शुक्ल जी छायावाद के आध्यात्मिक रहस्यवाद को काव्य के क्षेत्र के बाहर की चीज समझते थे।

आचार्य शुक्ल ने उपन्यासों और कहानियों पर भी विचार करते हुए लेखकों से व्यापक सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन के चित्रण करने का आग्रह किया है। उनके सहवर्ती आलोचकों में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल, बाबू गुलाब राय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्सी, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय और रामदहिन मिश्र प्रमुख है, जो अपनी-अपनी तरह से शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि का ही विस्तार कर रहे थे।

शुक्लोतर हिंदी आलोचना

आचार्य शुक्ल हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष थे लेकिन शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना का विकास शुक्ल जी मान्यताओं के साथ टकराहट के साथ शुरू हुआ। टकराहट का प्रमुख कारण था और टकराने वालों में छायावाद के प्रति सहानुभूति पूर्ण रुख रखने वाले रचनाकार और समीक्षक थे। शुक्ल जी के समकालीन कवियों में प्रसाद, पन्त और निराला प्रमुख थे जिन्होंने छायावादी काव्य रचना के साथ ही छायावाद के सन्दर्भ में शुक्ल जी मान्यताओं और प्राचीन शास्त्रवादी साहित्य मूल्यों का प्रतिवाद करते हुए छायावादी काव्यरचना को समझने के लिए एक दृष्टि प्रदान की। पन्त के 'पल्लव' को छायावादी आलोचना के नए प्रतिमानों का पहला घोषणापत्र कहा जाता है। इन कवि आलोचकों ने छायावादी साहित्य की काव्यभाषा, यथार्थ निरूपण, अर्थ मीमांसा, छंद मुक्ति, शिल्प-बोध आदि के एक नए साहित्य शास्त्र द्वारा काव्य बोध कराने का मार्ग

प्रशस्त किया। पन्त का काव्यभाषा विश्लेषण निराला का छंद संबंधी विचार और महादेवी के गीत-विधा विवेचन का हिंदी आलोचना में महत्वपूर्ण स्थान है। यही नहीं, निराला ने हिंदी आलोचना में पहली बार कविता के आवयविक सिद्धांत की व्याख्या की और प्रसाद ने हिंदी आलोचना को दार्शनिक धरातल प्रदान किया।

हिंदी आलोचना को जो प्रौढ़ता और सुव्यवस्था आचार्य शुक्ल ने प्रदान की थी, उसे आगे ले जाने का चुनौतीपूर्ण कार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र की महान त्रयी ने किया। ये तीनों अलग-अलग विषयों पर शुक्ल जी से टकराये भी। नन्द दुलारे वाजपेयी का शुक्ल जी से मतभेद केवल छायावादी काव्य को लेकर था और उनका हिन्दी आलोचना में सबसे महान योगदान छायावाद को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना है और उन्होंने सिद्ध किया छायावाद की मूल प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। वाजपेयी जी काव्य-सौष्ठव को सर्वोपरि महत्त्व दिया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का शुक्ल जी से मतभेद इतिहास-बोध को लेकर था। उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में हिंदी साहित्य को एक समवेत, भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास के रूप में समझने का प्रयास और प्रस्ताव किया। काव्य-रूढ़ियों और कवि-प्रसिद्धियों के माध्यम से काव्य के अध्ययन का प्रस्ताव भी हिंदी आलोचना को एक महत्वपूर्ण देन है। इस आधार पर ही द्विवेदी जी पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार किया। साहित्य और जन जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण पूरी तरह से मानवतावादी था जो शुक्ल जी के लोकमंगलवाद से काफी दूर तक मेल खाता है।

डॉ. नगेन्द्र ने फ्रायडीय प्रभाव के तहत मनोविश्लेषणात्मक व्याख्याएं की और शास्त्र विवेचन करते हुए भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सामानांतर सिद्धांतों की तुलना कर दोनों के बीच समान तत्त्वों की खोज की।

डॉ. देवराज का स्वर कुछ अलग था। उन्होंने शुक्ल जी के सूत्रों और कुछ नयी प्रवृत्तियों के आधार पर छायावाद की दुर्बलताओं की सोदाहरण व्याख्या करते हुए छायावाद के पतन की घोषणा कर दी और सांस्कृतिक-बोध को साहित्य के प्रतिमान के रूप में स्थापित किया।

शुक्लोतर आलोचना में अज्ञेय का भी अहम् योगदान है। उनकी भूमिकाओं (कवि-दृष्टि), निबंध ('त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'अद्यतन') और समग्र विवेचन

('संवत्सर') में साहित्य ही नहीं, रचनात्मकता और सम्प्रेषण मात्र की विविध समस्याओं का गहरा और सुलझा हुआ विश्लेषण हुआ है।

प्रगतिवादी आलोचना

शुक्लोतर युग में हिंदी आलोचना का विकास अनेक दिशाओं में हुआ। इनमें प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी, दार्शनिक और शैली वैज्ञानिक आलोचना प्रवृत्तियाँ प्रमुख है। प्रगतिवादी आलोचना का आधार मार्क्सवादी आलोचना थी। शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव और नामवर सिंह प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक रहे है। रामविलास शर्मा ने हिंदी साहित्य को वैचारिक कठमुल्लेपन से बाहर निकाला और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हिंदी साहित्य की पुनर्व्याख्या की। आदि काव्य से लेकर समकालीन साहित्य हिंदी की ठेठ जातीय परम्परा को स्थापित किया, जिसका प्रतिनिधि उन्होंने भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल और निराला को माना है। लेकिन उन्होंने कोई नया सिद्धांत विवेचन नहीं किय। अपने समकालीन मार्क्सवादी आलोचकों के आचार्य शुक्ल विरोधी दृष्टिकोण का प्रतिवाद करते हुए उन्होंने शुक्लजी की विरासत और लोकवादी परंपरा का विकास किया और कहा कि आचार्य शुक्ल ने आलोचना के माध्यम से उसी सामंती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के मध्यम से प्रेमचंद और निराला ने। शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त और रांगेय राघव ने मूलतः मार्क्सवादी सिद्धांतों का पक्ष-पोषण किया और उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। मुक्तिबोध ने साहित्य के अध्ययन को अंततः मानव सत्ता के अध्ययन के रूप में स्वीकृति और रचना प्रक्रिया के विश्लेषण पर जोर देते हुए 'कामायनी' का पुनर्मूल्यांकन करते है। नामवर सिंह के यहाँ मार्क्सवादी आलोचना का रचनात्मक और परिष्कृत रूप सामने आया। नामवर सिंह से छायावादी काव्य के उपनिवेश विरोधी और रुढ़िवाद विरोधी चरित्र का उद्घाटन किया और काव्य के नए प्रतिमानों का प्रश्न 'कविता के नए प्रतिमान' में उठाया जिस पर पश्चिम की रूपवादी आलोचना का गहरा प्रभाव है। मुक्तिबोध की रचनाओं पर गंभीर विवेचन भी सबसे पहले इसी पुस्तक में किया गया है। नामवर सिंह के बाद विश्वंभर नाथ उपाध्याय, रमेश कुंतल मेघ, शिवकुमार मिश्र और मैनेजर पाण्डेय ने मार्क्सवादी सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में कुछ साफ-सुथरी व्यावहारिक आलोचना के विकास में अहम योगदान किया है।

नयी समीक्षा

इस प्रगतिवादी आलोचना के समानांतर आलोचकों का एक समूह 'परिमल' से जुड़ा हुआ था, जिसका मुख्य केंद्र इलाहाबाद था। इस समूह के आलोचकों में धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, राम स्वरूप चतुर्वेदी और जगदीश गुप्त प्रमुख थे। राम स्वरूप चतुर्वेदी ने 'हिंदी नवलेखन', 'भाषा और संवेदना', 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन', 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' में आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक प्रतिमानों और सूत्रों को ही नवीन भाषिक संवेदना और रचनाशीलता के सन्दर्भ में स्थापित करते है। पचास के बाद हिंदी आलोचना पश्चिमोन्ख्मुता से भी प्रभावित हुईद्य इसके बावजूद इनमें अपने जातीय स्वरुप का आकर्षण बना रहा और अपने मूल की ओर लौटने की पुरजोर कवायद की जिसका असर नयी कविता के काव्य-भाषा के विकास में देखा जा सकता है।

आलोचना के बढ़ते आयाम

छठे और सातवें दशक में हिंदी आलोचना कविता के आभा-मंडल से युक्त होते हुए भी कथा साहित्य, नाटक और अन्य विधाओं को लेकर स्वतंत्र आलोचनात्मक प्रतिमानों और सिद्धांतों की नवीन आधारभूमि की तलाश की ओर अग्रसर हुई और आजादी के साहित्य रचना और सामाजिक परिस्थितियों में हुए बदलाव को देखते हुए इसकी आवश्यकता महसूस की जा रही थी। इस दिशा में विजय देव नारायण साही की भूमिका प्रमुख है। आलोचकों के आलोचक के रूप में विख्यात साही ने तत्कालीन आलोचनात्मक विवादों में सजग हस्तक्षेप किया और न केवल पश्चिम और पूर्व के काव्यान्दोलनों के बुनियादी अंतर को रेखांकित किया। उन्होंने 'जायसी' में आग्रह किया कि जायसी को 'सूफी' के बजाय 'कवि' के रूप में देखा जाना चाहिए। आधुनिक आलोचकों में साही के अलावा डॉ. रघुवंश ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने शमशेरबहादुर सिंह और विपिन कुमार अग्रवाल की समग्र समीक्षा करते हुए आधुनिक साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष को स्पष्ट किया और प्राचीन काव्यशास्त्र की आधुनिक साहित्य से संगति स्थापित की।

कथा समीक्षा के प्रति बढ़ता आग्रह

आलोचना की नयी दिशा की तलाश में दूसरा महत्वपूर्ण नाम देवीशंकर अवस्थी का है, जिन्होंने अपने अल्प-जीवन में 'विवेक के रंग' और 'नई कहानी

:सन्दर्भ और प्रकृति' की भूमिकाओं में किसी भी कृति की समीक्षा 'मूल्य-साँचें' अर्थात् साहित्यिक मूल्यों के आधार पर करने का आग्रह किया। अवस्थी जी ने सबसे पहले कहानी की समीक्षा के लिए काव्य-प्रतिमानों को लागू करने के खतरों से आगाह करते हुए उनसे इतर कुछ आलोचनात्मक बीज शब्दों का संकेत किया। बाद में नामवर जी ने 'कहानी, नयी कहानी' में काव्य प्रतिमानों के आधार पर कथा समीक्षा की एक नयी सैद्धांतिकी विकसित करने की कोशिश की। उपन्यास आलोचना के प्रतिमानों और सूत्रों को व्यवस्थित करने में नेमिचंद जैन और डॉ. गोपाल राय का प्रमुख योगदान रहा है। हिंदी उपन्यास की आलोचना में सबसे महत्पूर्ण योगदान नेमिचंद्र जैन और उनके 'अधूरे साक्षात्कार' का है। इसमें उन्होंने हिंदी उपन्यास की मानवीय और कलात्मक सार्थकता की खोज की और अपने बहुस्तरीय अनुशीलन के द्वारा हिंदी उपन्यास के सामान्य स्वरूप और उसकी विविधता पर प्रकाश डाला।

नाट्य समीक्षा का बदलता स्वरुप

इस दौर में नाट्य समीक्षा में नेमिचंद जैन द्वारा संपादित नाटक केंद्रित 'नटरंग'की अहम भूमिका रही है। आजादी के पहले से ही नाटक साहित्यिक विधा से रंगमंचीय विधा के रूप में परिवर्तित होने लगा था। रंगमंच के अनुकूल नाटक की भाषा के सवाल उठाने का श्रेय विपिन कुमार अग्रवाल को है।

समकालीन आलोचना का परिदृश्य

सातवें दशक के बाद की आलोचना में काफी वैविध्य है। लेकिन आलोचकों के अपने आग्रह, विचार और विविधता के बावजूद यह कोशिश दिखाई देती है कि अंतर्वस्तु और रचना शिल्प की दृष्टि से एक समावेशी और समेकित आलोचना दृष्टि का विकास किया जा सके। इस दौर के आलोचकों में मलयज, बच्चन सिंह, निर्मला जैन, विश्वनाथ त्रिपाठी, परमानन्द श्रीवास्तव, नन्दकिशोर नवल, रमेश चन्द्र शाह, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, नंदकिशोर आचार्य, प्रभाकर श्रोतिय, अशोक वाजपेयी और मैनेजर पाण्डेय आदि प्रमुख है। इनमें से अधिकांश छायावाद को अपनी आलोचना का प्रस्थान बिंदु बनाकर समकालीन कविता की आलोचना में अग्रसर होते है। मलयज 'कविता से साक्षात्कार' में आलोच्य कृति के 'वास्तविक मूल्यांकन की कुंजी' उसी कृति के भीतर तलाश पर जोर देते है। वे आलोचना में 'निर्मम तटस्थता' को

अनिवार्य शर्त मानते है और स्वयं निर्ममता से अनुपालन भी करते है। निर्मला जैन आलोचना के लिए अनुसंधान, पांडित्य, सिद्धांत-निरूपण और इतिहास आदि को आलोचना के लिए उपयोगी मानते हुए वे ठेठ आलोचना को इनसे अलगाने पर जोर देती है। वे वैचारिक आग्रहों से मुक्त रहते हुए छायावाद को 'स्वछंदता का स्वाभाविक पथ' घोषित करती है। 'कुरु-कुरु स्वाहा', 'जिंदगीनामा' और 'जहाज का पंछी' उपन्यासों के मूल्यांकन में वे उपन्यास की रचना-प्रक्रिया को समझने पर जोर देती है। विश्वनाथ त्रिपाठी एक ओर 'लोकवादी तुलसीदास' और 'मीरा का काव्य' में प्रगतिवादी आलोचना की एकांगिकता से बचाते हुए भक्तिकाव्य की लोकवादी-जनवादी मूल्य दृष्टि का अन्वेषण करते है तो दूसरी ओर 'देश के इस दौर में'परसाई की व्यंग्य दृष्टि की सार्थकता की खोज करते हुए उनके विचार-चित्रों की समानता मुक्तिबोध के काव्य-बिम्बों से स्थापित करते है। परमानन्द श्रीवास्तव मुख्यत: नई कविता के आलोचक है और वे कविता में सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भों और संरचना के स्तर पर आए बदलाव को सजगता से परखते हैं। रमेश चन्द्र शाह सर्जनात्मक समीक्षा पर जोर देते है और रचनाकार की सृजन प्रक्रिया का आत्मीय विश्लेषण आवश्यक मानते है। लेकिन उनकी आलोचना भाषा की दुरुहता उनकी आलोचना दृष्टि को बाधित करती है। मैनेजर पाण्डेय का आलोचनात्मक प्रखर है। उन्होंने यद्यपि आलोचना की कोई सैद्धांतिकी या पद्धति तो निर्मित नहीं की लेकिन उनके समीक्षात्मक लेखों और टिप्पणियों में एक ओर 'कला की स्वायत्तता' और 'आलोचना के जनतंत्र' जैसे मूल्य निरपेक्ष कलावादी मान्यताओं का विरोध करते है तो दूसरी ओर वे उत्तर आधुनिकतावादी और उत्तर संरचनावादी आलोचना दृष्टि और पद्धति का भी विरोध करते हैं।

स्वाधीनता के बाद दलित चेतना का विकास भारतीय समाज की एक बड़ी परिघटना है। हिंदी साहित्य और आलोचना में नेमिषराय, तुलसी राम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ. धर्मवीर, कँवल भारती और श्योराज सिंह 'बेचैन' आदि ने दलित चिंतन की सैद्धांतिकी और सौन्दर्यशास्त्रीय विकास की दिशा में पर्याप्त कार्य किया है।

दृष्टि और प्रवृत्तियाँ

हिंदी साहित्य और संवेदना के विकास क्रम में उसके मूल्यांकन की प्रक्रिया में भी बदलाव हुआ और हिंदी आलोचना नवीन मानदंडों और नवीन

प्रवृत्तियों को आत्मसात करती गई जिसके फलस्वरूप आलोचना की नवीन दृष्टियों और प्रवृत्तियों का विकास होता गया।

सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी दृष्टि' साहित्य की जड़ता, कृत्रिमता, रुढियों तथा अप्रासंगिक होती हुई लेखन परम्पराओं से विद्रोह स्वच्छंदतावादी दृष्टि की मूलभूत विशेषता है। स्वच्छंदतावादी आलोचना में वैयक्तिकता, आत्म सृजन, कल्पनाशीलता और स्वानुभूति को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए रचनाकार की अंतर्वृत्तियों का अध्ययन अनिवार्य मानते हैं। स्वच्छंदतावादी प्रभाव से हिंदी आलोचना किसी बंधे-बंधाये ढाँचे में नहीं, बल्कि नाना रूपों में प्रकट हुई।

मार्क्सवादी दृष्टि- हिंदी आलोचना को स्वच्छंदतावादी आत्मभिव्यक्ति की परिधि से निकालकर मार्क्सवाद और यथार्थवाद ने उसका संबंध फिर से बाह्य जगत और मानवीय एवं सामाजिक सरोकारों से जोड़ा और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की।

मनोविश्लेषणवादी दृष्टि-मनोविश्लेषणवादी दृष्टि या मनोविज्ञान के प्रभाव से हिंदी आलोचना में रचनाकारों के अंतर्मन के विश्लेषण की प्रवृत्ति का होने लगा।

रसवादी दृष्टि- वैसे तो संस्कृत काव्यशास्त्र की मूल दृष्टि रसवादी ही रही है, लेकिन आचार्य शुक्ल ने रसवादी चिन्तन को लोकमंगल से जोड़ते हुए हिंदी आलोचना की प्रवृत्ति को नयी दिशा दी। बाद नन्द दुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र इस रसवादी प्रवृत्ति को आगे बढाया।

नयी समीक्षा- यह अनेक दृष्टियों और प्रवृत्तियों की समाहार वाली आलोचना है। लेकिन समाहार रूप में नयी समीक्षा आज के परिवेश में एक नयी परंपरा निर्माण की आकांक्षी है।

अस्तित्त्ववादी दृष्टि-अस्तित्त्ववादी दृष्टि के प्रभाव से हिंदी आलोचना में व्यक्ति की अस्मिता, उसके अस्तित्व पर संकट, क्षणिक अनुभव, उसके आन्तरिक सत्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति विकसित हुई। अज्ञेय, धर्मवीर भारती और डॉ. रघुवंश जैसे आलोचकों के यहाँ अस्तित्त्ववादी प्रभाव देखा जा सकता है।

आधुनिकतावादी दृष्टि-आधुनिकतावादी दृष्टि के कारण हिंदी आलोचना में साहित्य में वस्तु यथार्थ के ऊपर अनुभव की प्रामाणिकता, परंपरा और शास्त्रीय नियमों के बजाय प्रयोग और नवीनता, सत्यता के बजाय ईमानदारी और

गतिशील मानव चेतना एवं व्यापकता से अधिक गहराई पर बल देने की प्रवृत्ति पायी गई।

इन दृष्टियों के आलोक में हिंदी आलोचना की प्रवृत्तियों में भी बदलाव होता गया। भारतेंदु युग में रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परंपरा में सैद्धांतिक आलोचना के अतिरिक्त ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली गद्य में लिखी गई टीकाओं और इतिहास ग्रंथों में कवि-परिचय के रूप में आलोचना का सूत्रपात हुआ। रचना को समझने और समझाने की प्रक्रिया में विकसित होने के कारण हिंदी आलोचना हिंदी साहित्य की मुक्तिकामी चेतना के अनुकूल रीतिवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद, कलावाद और अभिजात्यवाद विरोधी और स्वच्छंदताकामी रही है। यह वह प्रवृत्ति है, जो हिंदी आलोचना के आरम्भ काल से लेकर वर्तमान समय तक सदैव विद्यमान रही है। द्विवेदी युग में हिंदी साहित्य की इतिवृत्तात्मकता के आलोचना इतिवृतात्मक और गुण-दोष कथन तक की सीमित रही। द्विवेदी-युगीन और भारतेंदु-युगीन साहित्य की ही भाँति प्रेरणा देने का कार्य अधिक करता है। उस काल की प्रधान दृष्टि यही थी, आलोचना भी इस दृष्टि से प्रभावित थी। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य को "ज्ञान राशि के संचित कोष" के रूप में परिभाषित करते हुए ज्ञान की साधना को आलोचना से जोड़ा। हिंदी आलोचना को वैचारिक स्वरूप आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने दिया। आलोचना की भाषा और सौन्दर्यशास्त्र के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा विकसित और अर्जित भाषा उन्हें युग प्रवर्तक आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित करती है।। सबसे महत्त्वपूर्ण बात कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "कविता का उद्देश्य हृदय को लोक-सामान्य की भावभूमि पर पहुंचा देना है" कहकर लोक धर्म या लोक-मंगल के आदर्श को साहित्य ही नहीं आलोचना का भी केन्द्रीय प्रतिमान घोषित करते है और इस प्रकार साहित्य और समीक्षा दोनों ही सामजिक चेतना के उत्तरदायित्व से युक्त होती है।

शुक्ल जी तैयार दृढ आलोचना भूमि परवर्ती आलोचना विविध पद्धतियों और अलग-अलग दिशाओं में अग्रसर हुई। कुछ अनेक आलोचकों की बहुआयामी सक्रियता को देखते हुए किसी एक वर्ग में रख पाना शुक्लोत्तर युग में संभव नहीं रहा। अब तक चली आ रही आलोचनात्मक पद्धतियों से हटकर मार्क्सवादी आलोचना, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना, शैलीवैज्ञानिक आलोचना और नई आलोचना जैसी नवीन पद्धतियों का विस्तार हुआ। मार्क्सवाद के प्रभाव से हिंदी आलोचना आज सभ्यता समीक्षा का रूप धारण कर सकी है जबकि मनोविश्लेषण द्वारा रचनाकार के अन्तर्मन का विश्लेषण भी हिंदी आलोचना का

प्रमुख अंग बना गया। समकालीन आलोचना के दौर में एक ओर कलावादी रुझानों की सक्रियता है और उसकी पुनर्स्थापना के प्रयासों में तेजी आयी है, वहीं साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का भी विकास हुआ है और साहित्य के समाज और राजनीति से अन्त:संबंधों को नए सिरे से परिभाषित करने के प्रयास भी लक्षित किए जा सकते है। इस बीच अच्छी बात यह हुई कि अब आलोचना केवल कविता-केंद्रित आलोचना न रहकर उपन्यास, कहानी, नाटक, रंगमंच, निबंध, रेखाचित्र आदि सभी गद्य विधाओं को साथ लेकर बढ़ने व पनपने लगी। इस स्थिति ने हिंदी-आलोचना का सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर क्षेत्र काफी विस्तृत कर दिया है। हिंदी-आलोचना में गुणात्मक और सर्जनात्मक दोनों परिवर्तन साथ-साथ हुए।

आलोचना के प्रकार

- आलोचना के दो प्रकार हैं- सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक आलोचना।
- सैद्धांतिक आलोचना-.साहित्य.संबंधी सामान्य सिद्धांतों पर विचार किया जाता है। ये सिद्धांत शास्त्रीय भी हो सकते है और ऐतिहासिक भी। शास्त्रीय सिद्धांतों का स्वरूप स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है। ऐतिहासिक सिद्धांतों का स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है।
- व्यावहारिक आलोचना-जब सिद्धांतों के आधार पर साहित्य की समीक्षा की जाय, तो उसे व्यावहारिक आलोचना कहा जाता है। व्यावहारिक आलोचना कई प्रकार की हो सकती है।
- व्याख्यात्मक आलोचना- गूढ़.गंभीर साहित्य.रचना के विषय, उसकी भाषा, शिल्प को सरल.सुबोध भाषा में स्पष्ट करना।
- जीवन चरितमूलक आलोचना- इसके अंतर्गत रचनाकार के व्यक्तित्त्व, उसके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ, पर्यावरण, हाव-भाव, रुचि और शैली आदि तथ्यों को ध्यान में रखकर आलोचना की जाती है। जैसे-डॉ. रामविलास शर्मा की 'निराला की साहित्य साधना' और डॉ. नगेन्द्र का 'सुमित्रानंदन पन्त'।
- ऐतिहासिक आलोचना-इसके अंतर्गत वे आलोचनाएँ आती हैं जिनमें किसी रचना का मूल्यांकन रचनाकार की जाति, वर्ग और उसके समाज के आधार पर किया जाता है। इस आलोचना, पद्धति का आरंभ प्रसिद्ध इतिहासकार तैन ने किया था। यह हिंदी आलोचना की अमूल्य निधि है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर और नाथपंथियों का मूल्यांकन इसी आलोचना पद्धति से किया है।

- **प्रभाववादी आलोचना**-प्रभाववादी आलोचना में आलोचक कृति द्वारा उपन्न प्रभाव की मार्मिक आलोचना करने में तत्पर होता है। तटस्थ दृष्टि का इसमें प्राय: अभाव होता है। उपाधि ग्रहण के लिए लिखे जाने वाले शोध प्रबंध और लघु शोध प्रबंध प्राय: इसी कोटि में आते है। आचार्य शुक्ल ने इसे 'ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं' माना है।
- तुलनात्मक आलोचना- जब किसी रचनाकार या रचना की तुलना किसी अन्य रचनाकार या रचना या किसी दूसरी भाषा के साहित्य से की जाए तो तुलनात्मक आलोचना होती है।
- शैली वैज्ञानिक आलोचना- यह आलोचना भाषिक संरचना पर विशेष बल देने के कारण शैली वैज्ञानिक आलोचना के रूप में प्रतिष्ठित हुई। डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. नगेन्द्र, भोलानाथ तिवारी और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी प्रमुख शैली वैज्ञानिक आलोचक हैं।
- मिथकीय आलोचना- मिथकों के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। इस आलोचना में मनोविज्ञान का प्रभाव लक्षित होता है। इसके अंतर्गत साहित्य का मूल मानव वृत्तियों के साथ सहजात संबंध स्थापित करके उसे एक व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित किया जाता है।
- निर्णयात्मक आलोचना-जब निश्चित सिद्धांतों के आधार पर साहित्य के गुण-दोष या श्रेष्ठता-निकृष्टता का निर्णय किया जाता है। इसे नैतिक आलोचना भी कहा जाता है। ऐसी आलोचना में सैद्धांतिक यांत्रिकता अधिक होती है।
- समन्वयवादी आलोचना-अनेक प्रवृत्तियों और पद्धतियों के समाहार पर आधारित आलोचना है। आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य 'कला कला के लिए' और संस्कृत काव्यशास्त्र में समन्वय स्थापित कर आलोचना को समन्वयवादी स्वर देने की शुरुआत की थी। 'विरुद्धों का सामंजस्य' सूत्र इसी समन्वय की देन है।

आलोचक के गुण

किसी भी आलोचक के लिए सबसे अहम उसका आलोचनात्मक विवेक होता है। इस गुण के बिना आलोचक कवि या काव्य की आत्मा में प्रवेश ही नहीं

कर सकता है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के शब्दों में आलोचक में 'कवि की अंतर्वृत्तियों के सूक्ष्म व्यवच्छेद की क्षमता होनी चाहिए। चूँकि किसी भी रचना की तरह आलोचना भी पुनर्रचना होती है। अत: जिस भाव-भंगिमा, मुद्रा और तन्मयता के साथ कवि ने अपने काव्य की रचना की है, उसमें उतनी ही संवेदनशीलता और सहानुभूति के साथ प्रवेश कर जाने वाला पाठक ही सच्चा आलोचक होता है। आलोचक का दूसरा महत्वपूर्ण गुण सहृदयता है। आलोचक के अन्य गुण उसकी सहृदयता के होने पर ही सहायक हो सकते है। सहृदय होकर ही आलोचक किसी रचना से रचनाकार की समान अनुभूति से जुड़ सकता है। समीक्षक को आलोच्य रचना या कृति के उत्कृष्ट या मार्मिक स्थल की पहचान कर उसको प्रमुखता देनी चाहिए। अर्थात् आलोचक में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिए।

इन अनिवार्य गुणों के अतिरिक्त आलोचक में निष्पक्षता, साहस, इतिहास और वर्तमान का सम्यक ज्ञान, संवेदनशीलता, अध्ययनशीलता और मननशीलता भी होनी चाहिए। निष्पक्षता से तात्पर्य यह है कि आलोचक को अपने आग्रहों से मुक्त होना चाहिए। आलोचक के आग्रह, अहम या उसकी इच्छाएं और भावनाएँ निष्पक्ष आलोचना में बाधा बनती है। किसी भी रचना के मूल्यांकन में अपनी बातों को तर्कसंगत और तथ्यपरक ढंग से रखना आलोचक के लिए आवश्यक है, भले ही उसकी स्थापनाएँ पूर्व स्थापित मान्यताओं और सिद्धांतों के प्रतिकूल क्यों न पड़ती हो। ऐसी स्थापनाओं के लिए आलोचक में व्यापक अध्ययन एवं देशी-विदेशी साहित्य और कलाओं का ज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही अतीत की घटनाओं, परिस्थितियों और परम्परा एवं वर्तमान के परिवेश का सम्यक ज्ञान होना चाहिए। तभी वह रचना की युगानुकूल व्याख्या कर सकता है। वर्तमानता या समकालीनता से जुड़कर ही कोई आलोचक अपनी दृष्टि को अद्यतन बनाये रखता है। इसके बजाय विदेशों के समीक्षा ग्रंथों से उद्धरण देकर वाम विदेशी समीक्षकों के नाम गिनकर पाठकों को कृति से मुखातिब कराने के स्थान पर उन पर अपने पांडित्य की धाक जमाने की कोशिश आलोचक का गुण नहीं है। आलोचक को किसी सामान्य तथ्य या तत्त्व तक पहुँचने की जल्दबाजी नहीं होनी चाहिए बल्कि रचना के अक्षय स्रोत को बचाए रखने का गुण भी होना चाहिए।

आलोचना का महत्व

राम स्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार रचना यदि जीवन का अर्थ विस्तार करती है तो आलोचक रचना का अर्थ विस्तार करता है। दूसरे शब्दों में जीवन के अंतर्द्वंद्व

को देखने-परखने में आलोचना दीपक की भूमिका निभाती है। आलोचना रचनात्मक संकेतों को सामाजिक अनुभवों के आलोक में 'डी-कोड' करती है। इस तरह जहाँ रचनाकार की रचनाशीलता विराम लेती है वहीं से आलोचक का कार्य प्रारंभ होता है। किसी भी साहित्य की आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता और प्रसंगानुकूलता में संभव होती है, तभी आलोचना की सार्थकता और साथ ही साथ रचना की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है और इस प्रसंगानुकूलता और सापेक्षता की तलाश में आलोचना की सामाजिकता या सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न उभरता है। अतः आलोचना साहित्य का शास्त्र नहीं है बल्कि साहित्य का जीवन है, जो बदलते सामाजिक सन्दर्भों में बार-बार रचा जाता है। इस प्रकार आलोचना परखे हुए को बार-बार परखती है और जीवन-संबंधों के विकल्प की तलाश में साहित्य और आलोचना की सह-यात्र जरी रहती है।

आलोचना का संबंध एक साथ इतिहास और सामाजिक विमर्श दोनों से होता है। इतिहास में परिवर्तन की दिशा और संवेदना की पहचान करने, उसका विश्लेषण करने, उस परिवर्तन के कारणों और पड़ावों की पहचान करने और उसे अपने तत्कालीन समाज से जोड़ने की दृष्टि से आलोचना का व्यापक महत्व है। सामाजिक विमर्श के रूप में आलोचना के मूल्य सामाजिक मूल्य से भी संबंधित होते है। आलोचक जब इतिहास के साथ ही समाज, राजनीति, धर्म, नैतिकता और अर्थव्यवस्था के प्रश्नों से भी टकराता है तो इस टकराहट में वह साहित्य के मूल्य भी निर्मित करता है। मनुष्य के जातीय जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण करने में आलोचना का महत्त्व समझ में आता है। आलोचना से सहृदय को साहित्य के प्रमाणिक अनुशीलन की सुविधा प्राप्त होती है। सहृदय की रस ग्रहण क्षमता का परिष्कार करने के लिए उसकी संवेदनाओं को जागृत करने में आलोचना का अहम महत्त्व है। इससे कृतिकार को उत्साह, विचारों की प्रौढ़ता, रचनात्मक विचारों और शिल्प एवं भाषा के परिमार्जन और परिवर्द्धन की प्रेरणा मिलती है जबकि पाठक की बोध-वृति का भी परिष्कार होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि हिंदी आलोचना अपने आरम्भ से सामाजिक सरोकारों से गहरे स्तर पर जुड़ी हुई है। युगीन हलचलों, वैचारिक द्वंद्वों, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-धार्मिक-नैतिक-राष्ट्रीय चिंताओं के सापेक्ष आलोचना के स्वरुप में भी व्यापक बदलाव हुआ है। सबसे अहम् यह कि हिंदी आलोचना रचनात्मक साहित्य के नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं और नवीन सामाजिक सरोकारों से टकराते हुए विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृत्तियों से युक्त होती

चलती है। आलोचना के महत्त्व को मनुष्य के जातीय जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण करने की प्रक्रिया में ही हम समझ सकते है। किसी भी साहित्य की आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता और प्रसंगानुकूलता में संभव होती है, तभी आलोचना की सार्थकता और साथ ही साथ रचना की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है।

हिंदी आलोचना-विविध वाद

हिंदी आलोचना के विविध वादों का विकास क्रम

हिंदी आलोचना अपने आरम्भ से ही पाश्चात्य समीक्षा के मूल्यों, वादों और अवधारणाओं के साथ संवाद स्थापित करते हुए स्वरूप एवं आकार ग्रहण करती है। सर्वप्रथम हिंदी साहित्य की मुक्तिकामी चेतना के अनुकूल हिंदी आलोचना भी संस्कृत काव्यशास्त्र की आधार-भूमि से जुड़कर भी स्वाभाविक रूप से रीतिवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद और अभिजात्यवाद विरोधी और स्वच्छंदताकामी मार्ग पर अग्रसर हुई। भारतेंदु काल से आचार्य शुक्ल की आलोचनाशीलता तक प्रौढ़ता प्राप्त करने तक हिंदी आलोचना ने हिंदी साहित्य की प्रकृति और संवेदना के अनुकूल पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की कतिपय मान्यताओं को आत्मसात किया। छायावादी साहित्य आन्दोलन के साथ ही हिंदी आलोचना के विकास क्रम में स्वच्छंदतावाद का स्वाभविक प्रवेश हुआ। आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि और स्वच्छंदतावादी आलोचना में काफी समानता थी। लेकिन स्वच्छंदतावादी आलोचना की विशुद्ध वैयक्तिकता और आत्मपरकता हिंदी आलोचना में लंबे समय तक स्थान नहीं पा सकी और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी मान्यताओं से पोषित प्रगतिशील या यथार्थवादी आलोचना ने अपनी पैठ बनायीं। सन 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ ही मार्क्सवाद विचारधारा के प्रभाव से हिंदी साहित्य और आलोचना के प्रतिमानों में युगांतकारी परिवर्तन हुआ। साहित्य को आत्मभिव्यक्ति की परिधि से निकालकर मार्क्सवाद और यथार्थवाद ने उसका संबंध फिर से बाह्य जगत और मानवीय एवं सामाजिक सरोकारों से जोड़ा। मार्क्सवाद के प्रभाव से हिंदी आलोचना आज सभ्यता समीक्षा का रूप धारण कर सकी है। मार्क्सवाद के साथ ही लेकिन थोड़े दबे कदमों के साथ हिंदी आलोचना में मनोविश्लेषणवाद की भी दस्तक हुई। मनोविश्लेषणवादी आलोचना के प्रभाव से मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के आधार हिंदी आलोचना में

सूक्ष्मता मानस विश्लेषण होने लगा। लेकिन रचनाओं के कथ्य और रूप विश्लेषण में यह पद्धति सहायक होते हुए भी साहित्यशास्त्र को प्रभावित नहीं कर सकी। आजादी के बाद आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद ने में तेजी से बदलते जीवन सन्दर्भों हिंदी आलोचना को दिशा प्रदान की। आधुनिकतावाद के प्रभाव से हिंदी आलोचना नयी भाषा, नयी संरचना, पुराने प्रचलित शब्दों के नए अर्थ, नयी साहित्यिक पदावली की तलाश की ओर अग्रसर हुई। आजादी के बाद हिंदी साहित्य के लगातार और तेजी से बदलते स्वरूप के कारण हिंदी आलोचना में ऐसा बदलाव आवश्यक था। लेकिन नवीनता के फैशन से मुक्त होते हुए यथार्थ पर पांव जमाये रखा। आधुनिकतावाद के साथ ही अस्तित्त्ववाद ने भी हिंदी आलोचना में जगह बनायी और व्यक्ति और उसकी अस्मिता को साहित्य और आलोचना के केंद्र में स्थापित कर दिया। आधुनिकतावाद की प्रतिक्रिया में उत्तर आधुनिकतावाद के उदय के साथ ही संरचनावाद और उत्तर संरचनावाद से हिंदी आलोचना प्रभावित हुई लेकिन पाश्चात्य की तरह हिंदी आलोचना में इस तरह का कोई वाद नहीं चल सका।

स्वच्छंदतावाद

'स्वच्छंदतावाद में रचनाकार किसी भी वाद या विचारधारा या सिद्धांत से मुक्त होकर अपने निजी विचारों से संचालित होता है। 'रोमांटिसिज्म' अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान लगभग सम्पूर्ण यूरोपीय कला जगत, विशेषकर साहित्य में, के क्षेत्र में एक ऐसा आन्दोलन है जिसका उदय प्राय: 'क्लासिसिज्म' अथवा 'अभिजात्यवाद' की निर्जीव और रूढ़ होती कला-पद्धतियों की प्रतिक्रिया में हुआ। इसमें वैयक्तिक प्रतिभा और कल्पना से प्रेरित मौलिक रचनात्मकता, रचनाकार की स्वतंत्रता के अधिकार और नए प्रयोगों पर बल दिया गया। हिंदी में छायावाद के अभ्युदय के साथ ही आलोचना के क्षेत्र में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ उभरने लगी थी। हिंदी में 'स्वच्छंदतावाद' का प्रयोग पाश्चात्य साहित्य चिंतन के 'रोमांटिसिज्म' के लिए किया जाता है।

साहित्य और कलाओं के प्रति इस 'स्वच्छंदतावादी' दृष्टिकोण को प्रेरित करने वाली महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना फ्रांस की जन-क्रांति है। इस क्रांति में ज्यां जाक रूसो ने 'स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व' का नारा देकर व्यक्ति की स्वतंत्रता की मांग की। यह बंधनों से मुक्ति का आन्दोलन है। इसलिए स्वच्छंदतावाद किसी बंधे-बंधाये ढाँचे में नहीं बल्कि नाना रूपों में प्रकट हुआ।

स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्तियाँ और विशेषताएं वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स और बायरन की कविताओं में अभिव्यक्त हुई है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को 'प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन' कहकर भाव-प्रवणता पर विशेष बल दिया। लेकिन यह भावोच्छलन अनुशासनहीन नहीं होता है बल्कि इसके पीछे सूक्ष्म संवेदनशीलता का आग्रह है, जो कल्पना से युक्त होकर रचनाकार की आंतरिक अनुभूति को ईमानदारी से उदघाटित करती है।

भाव-प्रवणता के प्रभाव से स्वच्छंदतावादी आलोचना में वैयक्तिकता, आत्म सृजन, कल्पनाशीलता और स्वानुभूति को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। कॉलरिज ने कवि-कल्पना के महत्त्व को स्थापित करते हुए इसे सृजनकारिणी 'आदि शक्ति' तथा मस्तिष्क की सबसे अधिक प्राणवान क्रिया का दर्जा दिया। इसलिए स्वच्छंदतावादी आलोचना में रचनाकार की अंतर्वृत्तियों का अध्ययन अनिवार्य माना गया हैं। इसके अतिरिक्त जड़ता, कृत्रिमता, रूढियों तथा अप्रासंगिक होती हुई लेखन परम्पराओं से विद्रोह स्वच्छंदतावाद की मूलभूत विशेषता है। विषय वस्तु के स्तर पर स्वच्छंदतावादी आलोचकों ने उदात्त चरित्रों की गाथा के स्थान पर साधारण मानव के सामान्य अनुभवों, सांस्कृतिक मूल्यों तथा अपने परिवेश को महत्त्व दिया। शैली और शिल्प की प्रयोगशीलता और वैविध्यता व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ही एक रूप है जिसकी गुंजाइश अभिजात्यवादी अनुशासन में नहीं थी। भाषा के स्तर पर स्वच्छंदतावादी रचनाकारों ने सूक्ष्म अर्थच्छायाओं को उदघाटित और भाव-सम्प्रेषण के लिए सहज और जनभाषा के प्रयोग को आवश्यक ठहराया। स्वच्छंदतावादी आलोचना का दृष्टिकोण पूरी तरह से रसवादी है और रस में वे मानवतावादी यथार्थ को महत्व देते है। सौन्दर्य चेतना भी स्वच्छंदतावादी चेतना का मूल तत्त्व है। प्रकृति के एकाधिक रूपों के उन्मुक्त सौन्दर्य के प्रति उनका आकर्षण सहज था।

स्वच्छंदतावाद की लोकप्रियता और व्यापकता के प्रमुख कारक ही उसके अवसान के लिए भी जिम्मेदार रहे हैं। वैयक्तिकता और आत्मपरकता के कारण रचनाकार विशुद्ध रूप से आत्मकेंद्रित होकर वस्तु जगत के प्रति उदासीन होता गया और परिवेश के प्रति उसका जुडाव कम होता गयाद्य हिंदी साहित्य का छायावादी आन्दोलन भी 'नाना अर्थभूमियों के संकोच' के कारण अल्पकालिक साबित हुआ।

मार्क्सवाद और यथार्थवाद

मार्क्सवादी आलोचना का आधार मार्क्स-एंगेल्स द्वारा प्रवर्तित मार्क्सवादी सिद्धांत और विचारधारा है जिसमें वर्ग-संघर्ष, द्वंद्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा सामाजिक यथार्थवाद पर मुख्यत: बल दिया गया है। यह समाज को वर्गीय दृष्टिकोण से देखने के आग्रही है और शोषण की पूंजीवादी अधिरचना पर चोट करता है। प्रारंभिक दौर में मार्क्स-एंगेल्स की उक्तियों और टिप्पणियों से मार्क्सवादी आलोचना का संकेत मिलता है। लेकिन इसे विकसित और पल्लवित करने में प्लेखानोव, लेनिन, गोर्की, क्रिस्टोफर कॉडवेल, जार्ज लुकाच, रॉल्फ फाक्स, वाल्टर बेंजामिन, लु-शुन और ग्राम्सी जैसे रचनकारों और आलोचकों का अहम योगदान है। यह समाज, उसके इतिहास और प्राकृतिक घटनाओं का विश्लेषण द्वंद्वात्मक रूप से और भौतिकवादी विकास के आधार पर करता है। इसलिए इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद भी कहा जाता है। यह साहित्य में यथार्थवाद पर सबसे अधिक जोर देता है।

यथार्थवाद के अनुसार, साहित्य और कला का उद्देश्य वास्तविक जीवन और जगत के तथ्यों को निष्पक्ष होकर निर्वैयक्तिक भाव से प्रस्तुत करना है। इस कारण समकालीन जीवन, परिवेश, समस्याएं और स्थितियाँ ही यथार्थवादी लेखन की विषय-वस्तु हैं। यथार्थवादी दृष्टि की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति उपन्यासों में हुई है। यथार्थवाद लेखन का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना नहीं मानता है बल्कि समकालीन समाज की यथार्थ छवि को सामने रखकर उन्हें सोचने के लिए बाध्य करना है। मार्क्स और एंगेल्स साहित्य और कला में एक प्रवृत्ति और एक कलात्मक सृजन की विधि के रूप में यथार्थवाद को विश्व कला की सबसे बड़ी उपलब्धि मानते है। मार्क्सवादी आलोचना ने किसी कलाकृति में यथार्थ के सबसे सटीक चित्रण पर ध्यान केन्द्रित किया लेकिन यह चित्र यथार्थ की नकल मात्र नहीं है बल्कि सच्चाई का पुन:सृजन है। समाज के गतिशील यथार्थ का अंकन, सामाजिक अंतर्विरोधों और अन्त:संबंधों की व्याख्या और परिवर्तनकारी प्रगतिशील शक्तियों के साथ साहित्यकारों को जोड़ना, साहित्य रूपों की भूमिका को युगीन परिस्थितियों में अधिक प्रासंगिक बनाना और जनवादी संस्कृति एवं स्वस्थ जीवन-मूल्यों को बढ़ावा देना मार्क्सवादी आलोचना की प्रमुख विशेषता है।

मार्क्सवादी आलोचना उन सभी आलोचना पद्धति से अलग है, जो साहित्य या कलाकृति की स्वायत्तता पर जोर देती है। यह मूलत: सामाजिक और

ऐतिहासिक दृष्टि है। मार्क्सवादी आलोचक कला को सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं और उसके विकास का अंग मानते है। वे कला को उसके ऐतिहासिक ढांचें में रखकर देखते हैं। मार्क्सवादी आलोचना साहित्य के आलोचक और साहित्यिक इतिहासकार के बीच पार्थक्य को समाप्त कर देती है।

मार्क्सवादी आलोचना वस्तु-आधारित आलोचना है, जो 'वस्तु' और 'रूप' के द्वैत को स्वीकार करती है और 'वस्तु' को मूल सामाजिक तत्त्व के रूप में ग्रहण करती है। लेकिन भारतीय मार्क्सवादी समीक्षकों ने आलोचना में रूप पक्ष को समान महत्व दिया है। नामवर सिंह जैसे मार्क्सवादी समीक्षक ने नयी कविता के रूप पक्ष पर विस्तार से विवेचन किया है।

मार्क्सवादी आलोचना में विचारधारा को आत्यन्तिक महत्त्व प्राप्त है। इसके अनुसार कोई भी बड़ी साहित्यिक कृति अपने समय की प्रभुत्वशाली विचारधारा को केवल प्रतिबिंबित ही नहीं करती बल्कि उसे चुनौती देती है और उससे संघर्ष भी करती है।

हिंदी में मार्क्सवादी चिंतन की शुरुआत 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन से हुई, जिसमें प्रेमचंद ने साहित्य को जीवन की आलोचना और देश-काल का प्रतिबिंब कहा। लेकिन हिंदी में इसे एक भिन्न संज्ञा 'प्रगतिशील आलोचना' दी गई। शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, यशपाल, अमृत राय, रांगेय राघव, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, रमेश कुंतल मेघ, विश्वनाथ त्रिपाठी और मैनेजर पाण्डेय प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक है। इन्होंने इतिहास और परम्परा, रचना की अंतर्भूमियों की पहचान, वस्तु और रूप विधान के संबंध की पड़ताल, युग के यथार्थ चित्रण और रचनाकार की प्रतिभा के अन्त:संबंधों की छानबीन, सामन्तवाद-पूंजीवाद-साम्राज्यवाद एवं अपसंस्कृति का विरोध- आदि विषयों पर वाद-विवाद और संवाद के माध्यम से विस्तार से विचार किया है।

मनोविश्लेषणवाद

मनोविश्लेषणवाद का आधार फ्रायड, युंग और एडलर जैसे विचारकों की मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत और मान्यताएं हैं। इस आलोचना में साहित्यकार के अंतर्मन के द्वंद्व का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। फ्रायड की मान्यता है कि समस्त कलाओं के मूल में दमित और अतृप्त काम भावना होती है। हमारी कुंठाएं और अतृप्त वासनाएं जो उपचेतन या अवचेतन में पड़ी होती है, कला या साहित्य

के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। इसलिए कला यौन भावना की विकृतियों से मुक्ति का साधन है। अत: रचनाकार के मन के सन्दर्भ में ही रचना का विश्लेषण किया जा सकता है।

फ्रायड के अनुसार सामाजिक निषेध काम-वृत्तियों की मुक्त अभिव्यक्ति को बाधित करते है। परिणामत: ये वृत्तियां कुंठित और दमित होकर हमारे अवचेतन और अचेतन में निहित रहती है और अपनी अभिव्यक्ति के अवसर खोजती है। कला इन्हें अवसर प्रदान करती हैं। इस प्रक्रिया में मनुष्य के मानस में चेतन और अचेतन में द्वन्द्व चलता रहता है। इस प्रक्रिया में अचेतन की इच्छाओं और वासनाओं का चेतन मानस द्वारा उदात्तीकरण होता है। उदात्तीकरण से ग्रन्थियाँ खुलती हैं और कुण्ठायें दूर हो जाती हैं। इस उदात्तीकृत क्रियाकलाप से सभ्यता का विकास और सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण होता है। कला और साहित्य भी इसका एक रूप है।

फ्रायड के अनुसार अवचेतन मन की दमित इच्छाएं फंतासी में अभिव्यक्ति पाती हैं। उनका मत है कि कोई भी कला एक प्रकार से भ्रम का जाल बुनकर हमें यथार्थ की असहनीयता और कटुता से मुक्ति दिलाती है। यह भ्रम रम्य कल्पना फंतासी निर्मित करती है। फ्रायड ने 'अवचेतन सिद्धांत' के बाद 'स्वप्न सिद्धांत' को भी व्यापक महत्त्व दिया। उनके अनुसार स्वप्न भी मानव की दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति है। अत: स्वप्न हमें अवचेतन की महत्वपूर्ण सूचनाएं देते हैं। युंग के मतानुसार स्वप्न अतीत-वर्तमान-भविष्य तीनों से संबंध होते है।

फ्रायड ने जीवन के हर क्षेत्र के सभी प्रतीकों-मिथकों और कला-प्रयोजनों को 'यौन भावना' तक सीमित माना है, लेकिन दूसरे मनोविश्लेषणवादी युंग के अनुसार सृजनशील व्यक्ति एक ओर जीवन के राग-विरागों से घिरा मानव होता है इसलिए वह मानसिक रुग्णता का शिकार हो सकता है तो दूसरी ओर सृजनरत व्यक्ति के नाते निर्वैयक्तिक सृजन प्रक्रिया के प्रति पूर्ण समर्पित कलाकार। एडलर भी यौनेतर कारणों-सामाजिक-सांस्कृतिक-परिवेशगत वातावरण-को महत्व देते हैं।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना का सकारात्मक प्रभाव यह हुआ कि रचनाओं और रचनाकारों से नैतिकतावादी-पवित्रतावादी नियंत्रण समाप्त हो गया और साहित्य में यौन-भावनाओं का खुलकर प्रयोग होने लगा। इसके प्रभाव से कविता-नाटक और कथा साहित्य में चरित्र चित्रण, आद्य बिंबों, मिथकों और पुराणों के अध्ययन की नवीन दिशाएं खुलीं।

हिंदी आलोचना पर भी फ्रायड, युंग और एडलर के मनोविश्लेषणवादी सिद्धांतों का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है। लेकिन किसी मूल्य दृष्टि के अभाव में इन सिद्धांतों को आलोचना मानदंड के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने सैद्धांतिक-व्यावहारिक आलोचना में मनोविज्ञान का उपयोग किया है, लेकिन वे फ्रायड आदि से प्रभावित नहीं थे। मुक्तिबोध ने मनोविश्लेषण के आधार पर हिंदी आलोचना में फैंटेसी पर विचार किया है। इसके आधार पर स्वप्न चित्रों के सृजन और उद्घाटन की प्रवृत्ति बढ़ी है। डॉ. नगेन्द्र और इलाचंद्र जोशी ने छायावाद के विश्लेषण में फ्रायड के सिद्धांतों का उपयोग किया तो देवराज ने जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया। फिर भी कुल मिलाकर रचनाओं के कथ्य और रूप विश्लेषण में यह पद्धति सहायक तो है, लेकिन किसी कला या साहित्य के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय नहीं कर पाता।

आधुनिकतावाद

आधुनिकता एक ऐसी अवधारणा है जिसका संबंध परंपरागत एवं रूढिगत रीति रिवाजों के विरुद्ध नवीन वैज्ञानिक अविष्कारों और विचारों, अन्वेषणों, नयी प्रवृत्तियों, मूल्यों, मानदंडों, नयी संवेदनाओं और रूपगत प्रयोगों से है। ये परिवर्तन जब वैचारिक आन्दोलन के रूप में परिणत हुआ तो इसे आधुनिकतावाद कहा जाता है। आधुनिकतावाद ने धर्म, अधिभौतिकता, नैतिकता और प्रकृति से परे जाने की प्रवृत्ति का खंडन किया और बुद्धिवाद, विज्ञान और विकास का पर्याय बन गया। यह साहित्य और कला में भी नयी संवेदना, अभिव्यंजना के नए रूपों, शैलियों और प्रयोगों का पर्याय बन गया।

साहित्य, कला और अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों में आधुनिकतावाद का प्रचलन बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुआ लेकिन इसकी कई प्रवृत्तियों का कोई आदि और अंत निर्धारित नहीं किया जा सकता है। हिंदी साहित्य में अधुनिकता और आधुनिकतावाद के प्रचलन में अंतर किया गया है और हिंदी में 1940 के आसपास या द्वितीय विश्व युद्ध के अंत से उत्पन्न नवीन संवेदना और नवीन चिंतन दृष्टि के साथ आधुनिकतावाद आन्दोलन अस्तित्त्व में आया। इसके पूर्व भारतेंदु युग में रूढिबद्धता के विरुद्ध वैज्ञानिक और तर्कयुक्त दृष्टिकोण के साथ आधुनिकता का उदय हुआ था।

आधुनिकतावाद साहित्य में सामाजिक समस्याओं के स्थान पर व्यक्ति, उसकी वैयक्तिकता, यथार्थ बोध के बजाय उसके आत्मबोध को प्रमुख मानता है। यह प्रत्येक विचार को संशय की दृष्टि से देखता है, मूल्यों की स्थिरता में विश्वास नहीं करता है, अतीत से विमुख होकर वर्तमान की शरण लेता है, प्रत्येक प्रचलित विचार और व्यवस्था यहाँ तक कि यथार्थवाद का भी विरोध करता है और अनुभव की प्रमाणिकता पर बाल देता है, स्थायी अनुभवों के बजाय क्षणिक अनुभवों को अभिव्यक्त करता है, हर प्रकार के सामाजिक, नैतिक और यौन दमन के प्रति विद्रोह करता है।

आधुनिकतावादी आलोचना के अनुसार साहित्य का अपना स्वायत्त संसार है, इसका कोई सामाजिक प्रयोजन नहीं है। यह साहित्य और कला की किसी सामाजिक उपयोगिता को स्वीकार नहीं करता है। साहित्य का आम आदमी से कोई संबंध नहीं। यह आलोचना साहित्य में वस्तु यथार्थ के ऊपर अनुभव की प्रामाणिकता, परंपरा और शास्त्रीय नियमों के बजाय प्रयोग और नवीनता, सत्यता के बजाय ईमानदारी और गतिशील मानव चेतना एवं व्यापकता से अधिक गहराई पर बल देती है। प्रतिक्षण नवीन सृजन करने, कुछ अद्वितीय और विलक्षण प्रस्तुत करने के कारण प्रयोग ही ध्येय बन जाता है। नयी भाषा, नयी संरचना, पुराने प्रचलित शब्दों के नए अर्थ, नयी साहित्यिक पदावली की तलाश आधुनिकतावादी आलोचना की पहचान बन गयीद्य प्रसिद्ध आधुनिकतावादी कवि ऐजरा पाउंड ने तो यहाँ तक कह दिया कि अच्छी कविता कभी भी बीस वर्ष पुरानी शैली में नहीं लिखी जा सकती है।

आधुनिकतावादी आलोचना के अनुसार साहित्यिक कृति में अन्विति, सुसंगता या युक्तिसंगत व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं है और कृतियों को पूर्णता की दृष्टि से नहीं, टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित करके देखने की जरूरत है। आधुनिकतावाद एकाकीपन और अलगाव को साहित्य का मुख्य सरोकार मानता है क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य अपने सामाजिक परिवेश में नहीं बल्कि परिवार में भी अकेलापन महसूस करता है। इसलिए आधुनिकतावाद व्यक्ति की जटिल मानसिकता, उसकी ग्रंथियों और अछूती संवेदनाओं को प्रस्तुत करता है।

आधुनिकतावादी आलोचना के अंतर्गत प्रतीकवाद, बिम्बवाद, अतियथार्थवाद, भविष्यवाद और अन्तश्चेतनावाद भी शामिल है।

अंत में, निरंतर नवीनतम प्रयोग से आधुनिकतावादी आलोचना पर फैशन की प्रवृत्ति हावी हो जाती है और ऐसी आलोचना साहित्य और कलाओं का गला

घोंट देती है। प्रगतिवादी आलोचकों ने इसे रुग्ण मानसिकता की अभिव्यक्ति माना है। हिंदी आलोचना में आधुनिकतावादी और प्रगतिवादी आलोचकों के वैचारिक द्वंद्व से ही नई कविता में प्रगति और प्रयोग का एक समन्वित रूप उपजा जो अंततः उसके वैशिष्ट्य का कारण बना।

उत्तर संरचनावाद

उत्तर संरचनावाद का जन्म संरचनावाद की प्रतिक्रिया में सन् 1966 में फ्रांस के दार्शनिक और भाषा वैज्ञानिक जैक देरिदा के एक व्याख्यान से हुआ। संरचनावाद के अनुसार भाषा अविकल संकेतों का एक ऐसा तंत्र है, जिसमें संकेत यानी शब्द आपसी अंतर से अर्थग्रहण करते हैं। वे शब्द संकेत अपने अर्थ के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं, स्वयं का कोई अर्थ या अस्तित्त्व नहीं रखते। जबकि देरिदा ने इससे उलट अपना उत्तर संरचनावाद प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट कहा कि वास्तव में न तो अर्थ कभी उत्पन्न होता है, न कभी हम अर्थ को ग्रहण कर पाते हैं। जिसे हम 'अर्थ' समझते हैं, वह तो एक 'संकेत' के स्थान पर दूसरा 'संकेत' होता है, मगर वह अर्थ नहीं होता, जिसे हम चाहते हैं या तलाशते हैं। 'अर्थ' के लिए कोई बंद प्रणाली नहीं है। वह तो संकेतकों की पूरी शृंखला में फैला और बिखरा पड़ा है। उस अर्थ को दीवार में ठुकी कील की तरह स्थिर नहीं किया जा सकता। कोई भी शब्द संकेत न किसी शाश्वत वस्तु का संकेतक होता है न किसी मूल्य का सूचक। संकेत या चिह्न की अर्थवत्ता संदर्भ में निहित होती है। भारत में नैयायिक दर्शन इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था कि शब्द विशेष का विशेष-विशेष अर्थ संकेत के रूप में ही संभव हो पाता है।

संरचनावाद के विपरीत उत्तर संरचनावाद उच्चारित शब्द की अपेक्षा 'लेखन' पर अपना विश्लेषण कायम करता है। देरिदा के अनुसार किसी भी कथन या विमर्श का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। वास्तव में जिन विचारकों ने उत्तर आधुनिकतावाद को विकसित पल्लवित किया है, वे ही उत्तर संरचनावाद के विकास के लिए भी उत्तरदायी हैं। उत्तर आधुनिकता का मूल मंत्र यह है कि कहीं कोई चीज स्थायी नहीं, सब कुछ अनिश्चित है। उत्तर संरचनावाद भी इसी का पोषण करता प्रतीत होता है।

देरिदा ने आद्यलेखन की परिकल्पना की जो ऐसे चिह्नों से संपृक्त होता है, जिनसे अनुपस्थित (अर्थ) की तलाश की जाती है। यही पाठक या आलोचक की चेतना को गति देता है। गतिशीलता किस दिशा में, कहाँ जाकर सार्थक होगी,

कुछ भी निश्चित नहीं। इस तरह अनुपस्थित लेखन ही आद्य लेखन है और साहित्य आद्य लेखन की अभिव्यक्ति है।

देरिदा की अवधारणा से साहित्य, कविता, कला व आलोचना आदि में इस तरह असंख्य निर्वचनों का अंबार लग जाता है। देरिदा के अनुसार काव्य का आकार या पाठ महत्वपूर्ण नहीं होते, उसमें से व्यक्त होने वाले अर्थों को, संदर्भों को उजागर करना महत्वपूर्ण होता है। देरिदा का मानना है कि शब्द का अर्थ कहीं भी भाषा के अन्वय में वर्तमान नहीं होता। अर्थ हमेशा फिसलता है, उसमें फिसलन रहती है। जो विचार बनते हैं या बने हुए है उनमें कमियां होती है, इसी कारण अन्य विचारों का उदय होता है। देरिदा का मानना है कि किसी 'पाठ' में मौजूद अर्थ को निश्चित, पक्का और पूरा नहीं मानना चाहिए। हर शब्द, हर वाक्य, हर रचना अनेक निर्वचनों या तात्पर्यों का अंतहीन भंडार है। किसी शब्द का अंत्य अर्थ नहीं होता बल्कि शब्द से शब्द तक पहुँचने की प्रक्रिया मात्र होती है। जैसे 'समुद्र' शब्द समुद्र की भयावहता और गंभीरता को नहीं व्यक्त कर पाता। उसके स्थान पर मात्र एक शब्द ही दे पाता है, अंत्य अर्थ नहीं देता। जो जैसा पढे, वह अपना मनचाहा अर्थ निकालता रहे। इसे ही 'विखंडनवाद' कहा गया जो प्रत्येक निश्चितता का खंडन करता है। अर्थ का न तो 'पद' से स्थायी संबंध है और न 'पदार्थ' (वस्तु) से। इसलिए विखंडनवाद 'साहित्यिक आतंकवाद' में बदल जाता है। जैक देरिदा का सामाजिक दायित्व से रहित यह सिद्धान्त विश्व की सम्पूर्ण अतीत, वर्तमान और भविष्य की साहित्य रचना विरासत को ध्वस्त कर उसका प्राण हरण करने वाला सिद्धान्त है। इसके लिए परम्परा, संस्कार और साहित्यिक सौंदर्य, सामाजिक उपादेयता आदि 'फालतू बातें' है।

मिशेल फूको ने देरिदा के उत्तर संरचनावाद के ध्वंसकारी रूप का सुधार करते हुए शब्द का अर्थ तलाशने के बजाय उसके विमर्श पर जोर दिया। फूको के अनुसार 'विमर्श' मानव मस्तिष्क की केन्द्रीय गतिविधि है। वह इस विडम्बना को रेखांकित करता है कि कोई भी सिद्धान्त उस समय तक स्वीकृत नहीं होता, जब तक वह अपने युग के राजनीतिक और बौद्धिक सत्ता केन्द्रों में सामंजस्य स्थापित नहीं कर लेता।

निष्कर्षत: हम कह सकते है कि हिंदी साहित्य की मुक्तिकामी चेतना के अनुकूल हिंदी आलोचना भी संस्कृत काव्यशास्त्र की आधार-भूमि पर पांव जमाते हुए स्वाभाविक रूप से रीतिवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद और अभिजात्यवाद

विरोधी और स्वच्छंदताकामी मार्ग पर अग्रसर हुई। अतः स्वच्छंदतावाद हिंदी आलोचना के विकास क्रम का पहला स्वाभाविक पड़ाव है। इसके बाद मार्क्सवादी मान्यताओं से पोषित प्रगतिशील या यथार्थवादी आलोचना ने हिंदी आलोचना को अतिशय अमूर्तता, घोर आत्मपरकता और कपोल-कल्पना के घेरे से बाहर निकलने में अहम भूमिका निभायी। मनोविश्लेषणवादी आलोचना से हिंदी आलोचना में सूक्ष्मता मानस विश्लेषण होने लगा। आजादी के बाद आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद ने हिंदी आलोचना को तेजी से बदलते जीवन सन्दर्भों हिंदी आलोचना को दिशा प्रदान की

हिन्दी आलोचना - उद्भव और विकास

भारतेन्दु युग हिन्दी आलोचना का उद्भव काल है। रीतिकालीन संस्कृत ग्रंथों की परिपाटी को छोड़कर हिन्दी आलोचना इस काल में एक नवीन मार्ग पर अग्रसर रही, सूर-सूर तुलसी ससी उक्तियों में भक्तिकालीन आलोचना का रूप मिलता है। रीतिकाल में सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों रूपों में आलोचना मिलती है। केशवदास की कवि प्रिया और रसिक प्रिया, सैद्धांतिक समीक्षा तथा बिहारी सतसई की टीकाओं में व्यवहारिक आलोचना देखी जा सकती है। हिन्दी आलोचना से पूर्व संस्कृत में अनेक आलोचना ग्रंथ लिए गए है।

भारतेन्दु कालीन आलोचना तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आई आलोचना का सूत्रपात करने वाले इन पत्रों में कवि वचन सुधा, हरिशचन्द मैगजीन, हिन्दी प्रदीप, प्रमुख है। कवि वचन सुधा में भारतेन्दु हरिशचन्द ने हिन्दी कविता नामक पहला आलोचनात्मक लेख लिखा या भारतेन्दु युग में साहित्यिक पुस्तकों की परिचयात्मक टिप्पणियों के रूप में आलोचनाएं प्रकाशित होती थी, सैद्धांतिक आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु की नाटक रचना से होता है, जिसमें युगानुकूल नाटक लिखने के सिद्धांतों का विवेचन है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रकाशन से आलोचना के क्षेत्र में पहले से अधिक गम्भीरता आने लगी।

सरस्वती के सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आलोचना को एक नई दिशा प्रदान की। द्विवेदी जी संस्कृत के कवि कालिदास भवभूति तथा हिन्दी के सूर तुलसी भारतेन्दु तथा मैथिलीशरण गुप्त के प्रशसंक थे। उनकी आलोचना में भारतीय रस सिद्धांत का समर्थन तो है ही साथ ही नवीनता का भी समर्थन है। उनकी आलोचना गुणदोष विवेचन तक ही सीमित थी।

द्विवेदी युग में मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी नवरत्न तथा मिश्रबन्धु विनोद की रचना की इन रचनाकारों द्वारा हिन्दी में पहली बार ऐतिहासिक और सैद्धांतिक आलोचना का रूप सामने आया। मिश्रबंधुओं ने हिन्दी नवरत्न में देव को बिहारी से श्रेष्ठ माना है। इससे प्रेरणा पाकर द्विवेदी युग में तुलनात्मक आलोचना का जन्म हुआ। पंडित पद्यमसिंह शर्मा ने बिहारी नामक रचना में बिहारी को शृंगार रस का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है। तदुपरान्त कृष्ण बिहारी मिश्र ने देव और बिहारी नामक पुस्तक लिखकर देव को श्रेष्ठ माना किन्तु लाल भगवान दीन ने बिहारी और देव लिखकर इसका विरोध किया। इस प्रकार रामचन्द शुक्ल से पूर्व हिन्दी आलोचना जगत देव बिहारी द्वंद का अखाड़ा बना रहा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक है। इनसे पूर्व आलोचना का कोई आदर्श स्थापित नहीं था। आचार्य शुक्ल एक सुनिश्चित मानदंड और एक विकसित आलोचना पद्धति लेकर अवतरित हुए। आचार्य शुक्ल के आलोचना के तीन रूप हैं- सैद्धांतिक आलोचना के तहत उनके चिन्तामणि तथा रस मीमांसा के लेख है। ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास एक महत्वपूर्ण देन है। इतिहास के क्षेत्र में शुक्ल जी का दृष्टिकोण पर्याप्त वैज्ञानिक है। तुलसीदास, सूरदास, जायसी आदि ग्रंथों की भूमिकाएं व्यवहारिक समीक्षा के उदाहरण है। शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति में उनके व्यक्तित्त्व की विशिष्टता नैतिक दृष्टिकोण आदर्श वादिता, मौलिक चिन्तन और गंभीर अध्ययन की झलक है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समकालीन आलोचकों में डॉ. श्यामसुन्दर दास, पदुमलाल, पन्नालाल बख्शी, गिरिदत्त शुक्ल, कृष्णशंकर शुक्ल आदि का नाम उल्लेखनीय है। द्विवेदी युगीन आलोचना की त्रुटियों को दूर करते हुए शुक्ल जी ने आलोचना पद्धति को पूर्ण बनाया। शुक्ल जी के परवर्ती आलोचकों ने सामान्यत: शुक्ल जी के आदर्शों को अपनाया है। किन्तु कुछ प्रतिभावान आलोचकों ने इस क्षेत्र में अपनी मौलिकता का परिचय दिया। ऐसे आलोचकों में नन्द दुलारे बाजपेयी, डॉ. नागेन्द्र तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम प्रमुख है।

आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी की महाकवि सूरदास जयशंकर प्रसाद, महाकवि निराला, आधुनिक हिन्दी साहित्य, हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, नया साहित्य नये प्रश्न, आदि कई महत्वपूर्ण आलोचनात्मक रचनाएं है। आचार्य बाजपेयी सौन्दर्यवादी आलोचक हैं।

डॉ. नागेन्द्र नन्द दुलारे बाजपेयी की तरह छायावाद के प्रति सहानुभूति रखने वाले समालोचक है। ये सौंदर्य शास्त्र को लेकर आलोचना क्षेत्र में प्रवेश किए. सुमित्रनन्दन पंत, साकेत, भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, महाकवि देव, रीतिकाव्य की भूमिका, रस सिद्धांत आदि उनकी समीक्षात्मक कृतियां है। रस सिद्धांत नागेन्द्र के साहित्य चिन्तन की सर्वोत्तम उपलब्धि हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानवतावादी समालोचक है। हिन्दी साहित्य की भूमिका कबीर, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, विचार और वितर्क, कल्पलता और अशोक के फूल आदि रचनाओं में द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से आलोचना को आगे बढ़ाया है। द्विवेदी जी की लोक जीवन में अटूट आस्था थी।

साहित्यिक समीक्षा को प्रोढ़ रूप देने में आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, डॉ. नागेन्द्र और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त बाबू गुलाब राय, शांति प्रिय द्विवेदी, डॉ. रामकुमार वर्मा, पंडित विश्वनाथ मिश्र, डॉ. सत्येन्द्र, डॉ. कृष्णलाल, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, डॉ. वार्ष्णेय एवं आचार्य बलदेव उपाध्याय का नाम भी महत्वपूर्ण है।

बाबू गुलाबराय समन्वयवादी समालोचक थे। सिद्धांत और अध्ययन तथा काव्य के रूप में उनके समन्यवादी रूप दृष्टि गोचर होता है। शांतिप्रिय द्विवेदी ने छायावादी काव्य के सौंदर्य पक्ष का उद्घाटन किया है। पंडित विश्वनाथ मिश्र रीति कालीन काव्य के समर्थक आलोचक है। परशुराम चतुर्वेदी सन्तकाव्य के आलोचक है। डॉ. कृष्णलाल डॉ. वाष्णेय और रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य पर प्रमाणिक कार्य किया है। डॉ. सत्येन्द्र का लोक साहित्य की ओर झुकाव है। आचार्य बलदेव उपाध्याय भारतीय काव्य सम्प्रदायों की आलोचना प्रस्तुत की है।

आधुनिक युग में विविध् समीक्षा पद्धति का विकास हुआ है। जिसमें शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, यशपाल आदि मार्क्सवादी आलोचक हैं। इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय ने मानों विश्लेषणात्मक आलोचनाएं प्रस्तुत की हैं। प्रभाववादी आलोचकों में शांतिप्रिय दिवेदी, भगवत शरण उपायाय का नाम प्रमुख है। आधुनिक समीक्षाओं में डॉ. इन्द्रनाथ मदान, डॉ. रमेश कुंतल मेघ, लक्ष्मी कान्त वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश चन्द्र माथुर आदि का नाम महत्वपूर्ण है। इस प्रकार हिन्दी आलोचना प्रगति पथ पर अग्रसर है क्योंकि इस क्षेत्र में तीव्रता से काम हो रहा है।

डॉ. नामवर सिंह हिन्दी आलोचना की वाचिक परम्परा के आचार्य माने जाते हैं, जैसेकि बाबा नागार्जुन घूम-घूमकर किसानों और मजदूरों की सभाओं से

लेकर छात्र-नौजवानों, बुद्धिजीवियों और विद्वानों तक की गोष्ठियों में अपनी कविताएँ बेहिचक सुनाकर जनतान्त्रिक संवेदना जगाने का काम करते रहे थे, वैसे ही नामवर सिंह घूम-घूमकर वैचारिक लड़ाई लड़ते रहे, रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास, कलावाद, व्यक्तिवाद आदि के खिलाफ साहित्यिक चिन्तन को प्रेरित करते रहे हैं। नामवर सिंह के कृतित्व और व्यक्तित्त्व दोनों का ही, अपने समय की बनती हुई युवा-पीढ़ी पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके चिन्तन, उनकी भाषा, उनकी रचनाशीलता और उनके व्यक्तित्त्व से नयी पीढ़ी को एक नई दिशा मिली है। आलोचना में नामवर सिंह का यही महत्व है कि जब काव्य चिन्तन में जीवन-निरपेक्ष साहित्यिकता को महत्व मिल रहा था, वे जीवन-सापेक्ष कलात्मकता के लिए संघर्षरत रहे। नामवर सिंह की वैचारिक दृष्टि आधुनिक साहित्यिक संदर्भों में काफी मूल्यवान रही है। वह हिन्दी के शीर्ष शोधकार-समालोचक, निबन्धकार तथा मूर्धन्य सांस्कृतिक-ऐतिहासिक उपन्यास लेखक हजारी प्रसाद द्विवेदी के सबसे प्रिय शिष्यों में एक हैं। अत्यधिक अध्ययनशील तथा विचारक प्रकृति के नामवर सिंह हिन्दी में अपभ्रंश साहित्य से आरम्भ कर निरन्तर समसामयिक साहित्य से जुड़े हुए आधुनिक अर्थ में विशुद्ध आलोचना के प्रतिष्ठापक तथा प्रगतिशील आलोचना के प्रमुख हस्ताक्षर माने जाते हैं। उनका जन्म 1 मई 1927 को चंदौली (उ.प्र.) के गाँव जीयनपुर में हुआ था। उन्होंने हिन्दी साहित्य में एम.ए और पीएच.डी. करने के बाद काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापन करने लगे। वह 1959 लोकसभा चुनाव भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार रूप में लड़े लेकिन पराजित हो गए।

उसके बाद उन्हें बी.एच.यू छोड़ना पड़ा और वह सागर विश्वविद्यालय एवं जोधपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन करने लगे। बाद में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में उन्होंने काफी समय तक अध्यापन कार्य किया। अवकाश प्राप्त करने के बाद भी वे उसी विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र में इमेरिट्स प्रोफेसर रहे। वे हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, बंग्ला एवं संस्कृत भाषा भी जानते हैं। 'बकलम खुद' में उनकी उपलब्ध कविताओं एवं अन्य विधाओं की गद्य रचनाएं संकलित हैं। 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' उनकी शोध-कृति रही है, जिसका संशोधित संस्करण अब 'पृथ्वीराज रासो: भाषा और साहित्य' नाम से उपलब्ध है। नामवर सिंह की आलोचनात्मक कृतियों में आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, छायावाद, इतिहास और आलोचना, कहानी–नयी कहानी, कविता के नये प्रतिमान, दूसरी परम्परा की खोज, वाद विवाद और संवाद, साक्षात्कार,

कहना न होगा, बात-बात में बात, पत्र-संग्रह, काशी के नाम आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा आलोचक के मुख से, कविता की जमीन और जमीन की कविता, हिन्दी का गद्यपर्व, प्रेमचन्द और भारतीय समाज, जमाने से दो-दो हाथ, साहित्य की पहचान, आलोचना और विचारधारा, सम्मुख, साथ-साथ, पुरानी राजस्थानी, चिन्तामणि आदि उल्लेखनीय हैं। उनको साहित्य अकादमी पुरस्कार, हिंदी अकादमी के शलाका सम्मान, साहित्य भूषण सम्मान, शब्द-साधक शिखर सम्मान, महावीरप्रसाद द्विवेदी सम्मान आदि से समादृत किया जा चुका है। रचना की प्राथमिकता के प्रश्न पर नामवर सिंह प्रतिप्रश्न करते हैं कि 'पहले संस्कृति या पहले आर्थिक और राजनीतिक उत्थान? सच पूछिए तो यह प्रश्न ही गलत ढंग से उठाया गया है। एक निश्चित ऐतिहासिक स्थिति की विशिष्टता के अनुरूप यह सामान्य प्रश्न भी विशिष्ट रूप से सामने आता है। इतिहास की संश्लिष्ट प्रक्रिया में प्राथमिकता का प्रश्न इतने सामान्य रूप में प्रस्तुत नहीं होता और न आगे-पीछे के ढंग से वह हल ही किया जाता है।

मिसाल के लिए उपनिवेशवादी दौर में जब राजनीतिक स्वाधीनता भारत का प्रथम लक्ष्य था, सारे सांस्कृतिक प्रयास इस बिना पर मुल्तवी नहीं रखे गए कि आजादी मिल जाने के बाद ही संस्कृति की ओर ध्यान दिया जाएगा। आजादी के इंतजार में यदि डेढ़-दो सौ वर्षों तक सारे सांस्कृतिक कार्य ठप्प रखे गए होते, स्वाधीन भारत कितनी मूल्यवान सांस्कघृतिक विरासत से वंचित रह जाता। यही नहीं बल्कि आजादी के बाद क्षतिपूर्ति असंभव होती। यह कहना कि संस्कृति एक दिन में नहीं बनती- संस्कृतिवाद नहीं है। इसी प्रकार का एक भ्रम यह भी है कि संस्कृति का बुद्धि-विलास विकसित और समृद्ध यूरोप, अमेरिका तथा जापान को मुबारक, एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के देश फिलहाल संस्कृति की ऐयाशी में अपने सीमित साधनों का अपव्यय नहीं कर सकते। एक तो इस कथन के पीछे स्पष्टतः संस्कृति की अत्यन्त सीमित धारणा निहित है। दूसरे, विकास में संस्कृति की सक्रिय भूमिका की कोई पहचान नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों ने सांस्कृतिक चेतना का विकास करके ही साम्राज्यवादी शिकंजे से अपनी राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त की। राष्ट्रीय चेतना के विकास के बिना स्वाधीनता की प्राप्ति असंभव थी, और कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रीय चेतना वस्तुतः एक सांस्कृतिक चेतना है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद इस सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकता कम हुई नहीं है। आर्थिक विकास और जनतांत्रिक राजनीति का विस्तार करने के साथ ही

अपनी स्वाधीनता की रक्षा निश्चय ही प्रधान आवश्यकताएँ प्रतीत होती हैं, किन्तु इन सभी कार्यों को संपन्न करने के लिए देश की जनता को सांस्कृतिक चेतना से लैस करना भी उतना ही आवश्यक है। यदि इस बात पर जोर न दिया गया तो संस्कृति का समूचा मैदान ऐसे तत्त्वों के हाथ पड़ जाएगा जो किसी-न-किसी तरह संस्कृतिवाद की विचारधारा का ही प्रचार करते हैं। संस्कृतिवाद का जवाब अर्थवाद नहीं है, जवाब है संस्कृति की ऐसी मूलगामी आलोचना जो आलोचना की संस्कृति के मूल अभिप्राय का मायाजाल छिन्न-भिन्न करने में समर्थ हो। 'आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना' शीर्षक अपने एक लेख में नामवर सिंह लिखते हैं कि वैसे, कहने के लिए सौन्दर्यशास्त्र ने संस्कृति को संकुचित किया, किन्तु हकीकत में वह शिष्ट वर्ग है जिसने आगे-पीछे सौन्दर्यशास्त्र और संस्कृति दोनों को संकुचित किया।

इस प्रक्रिया में संस्कृति अपने सही अर्थ में एक विचारधारा बन गई। विचारधारा की पूरी ताकत के साथ। संस्कृति का एक अलग वाद खड़ा हो गया। नाम पड़ा संस्कृतिवाद। इस संस्कृतिवाद ने साहित्य की आलोचना को भी प्रभावित किया। संस्कृतिवाद ने जिस तरह संस्कृति को संकुचित किया, उसी तरह उसने साहित्य की आलोचना को भी संकुचित किया। संस्कृतिवाद की शब्दावली में कहें तो संस्कृति ने साहित्य की आलोचना को संस्कृत-सुसंस्कृत किया। आलोचना अपनी कोख से ही आलोचनात्मक रही है। हिन्दी में 'आलोचना' शब्द की व्युत्पत्ति भले ही 'लुच' धातु से बताकर चारों ओर अच्छी तरह देखने के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाए, इसे देखने के तेवर कई तरह के रहे हैं। देखने की वह भी एक दृष्टि होती है, जो सारे छद्म को तार-तार करके रख देती है। यह वह दृष्टि है जिससे बने हुए सभ्य और संस्कृत जन घबराते हैं, डरते हैं, थर्राते हैं। अंग्रेजी का 'क्रिटिसिज्म' शब्द अपने उस आलोचनात्मक अर्थ को आज भी सुरक्षित रखे हुए है। दोष-दर्शन और छिद्रान्वेषण के अर्थ में आज भी आलोचना का व्यवहार देखा और सुना जाता है। यद्यपि संस्कृति के संबंध में हिंदी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कि आलोचना-कर्म हिंदी साहित्य का अभिन्न अंग है। ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जाएँगे, कवि-कर्म कठिन होता जाएगा और उसके साथ ही आलोचना-कर्म भी। इस सभ्यता के कारण क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है, वह भी सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते

पहनकर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जाने वाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है। वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी का मानना है कि साहित्य अपनी विशिष्ट संस्कृति भी विकसित करता है। यह साहित्यिक संस्कृति साहित्य में सक्रिय शक्तियों और दृष्टियों के बीच संवाद का शील निरूपण करती है, सीमाएँ निर्धारित करती है, खेल के नियम बनाती है ताकि कुछ सीमाओं का अतिक्रमण न हो सके। वह (संस्कृति) असहमति और अंतर्विरोधों को मुख्य प्रक्रिया में समाहित करती है। साहित्य और संस्कृति के सवाल पर सदियों पहले मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा था कि आलोचना संस्कृति का वर्चस्व बढ़ाती है और संस्कृति समरसता एवं संतुलन स्थापित करने का साधन है क्योंकि वह समरसता और संतुलन की अभिव्यक्ति भी है। इस संस्कृति में वही सहयोग दे सकते हैं, जो झगड़ा-फसाद जैसे व्यावहारिक मसलों से अलग रहते हों और जो अपने आपको तथा अपनी भाषा को हाट-बाजार के धुएँ से काला नहीं करते हों। नामवर सिंह का मानना है कि अंग्रेजी में मैथ्यू आर्नल्ड से पहले साहित्यिक आलोचना का दोष-दर्शनवाला रूप प्रचलित था और शायद प्रबल भी। साहित्य के आलोचक सामाजिक आलोचना के लिए भी इस अस्त्र का उपयोग करते थे। रूस में बेलिंस्की जैसे तेजस्वी आलोचक ने साहित्यिक आलोचना को जिस तरह सामाजिक और राजनीतिक आलोचना के प्रखर अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया, वह उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के इतिहास का संभवतः सबसे शानदार अध्याय है।

हिन्दी में भी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से चलकर बीसवीं सदी में महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा से आती हुई साहित्यिक आलोचना का वह सामाजिक-राजनीतिक तेवर अब भी बरकरार है, किन्तु सौन्दर्यशास्त्र के संपर्क से संस्कृति की तरह और लगभग संस्कृति के साथ ही साहित्यिक आलोचना का सुंदरीकरण हुआ। सुंदरीकरण शब्द सुन्दर नहीं है। 'सुन्दरीकरण' कहें तो भी बात बनने की जगह बिगड़ती-सी लगती है। ठेठ हिन्दी में हिन्दी के अपने देसी लहजे में कहें तो सौन्दर्यशास्त्र ने आलोचना को 'सुन्दर' बनाया। 'सुन्नर' बनाया। नामवर सिंह लिखते हैं कि साहित्य के लिए न तो कलाओं का संपर्क हानिकर है, न सौन्दर्यशास्त्र का। हानिकर है कलावाद की कला और कलावाद का सौन्दर्यशास्त्रय और इस सौन्दर्यशास्त्र पर कलावाद की छाप इतनी गहरी है कि वह सौन्दर्यशास्त्र की अधिकांश अवधारणाओं तक में घर किए बैठी है - यहाँ तक कि सौन्दर्यशास्त्र

की समूची भाषा कलावादी अभिरुचि से ओतप्रोत है। इस भाषा में सोचनेवाला व्यक्ति साहित्य को तो रूपाकारों में देखने का अभ्यस्त हो ही जाता है, जीवन-जगत और समाज को भी उन्हीं रंग-रूपों की तरह देखने लगता है। 'देख हि चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।' आकस्मिक नहीं कि इस सौन्दर्यशास्त्रीय प्रभाव में सारा साहित्य सिमटकर 'काव्य' बन जाता है, अभिरुचि कविता तक सिमट रहती है। आगे बढ़ी तो नाटक तक और वह भी इसलिए कि उसमें विविध कलाओं का योग रहता है। उपन्यास और कहानी इस अभिरुचि के दरवाजे के बाहर होते हैं। इनमें से एकाध को प्रवेश भी मिल पाया तो इसलिए कि उनमें 'कवित्व' है। यहाँ 'कवित्व' का अर्थ विशेष है। एक खास काट का कवित्व। नख-दन्त-विहीन। गर्द-गुबार रहित। जिन बातों के कारण कहानी-उपन्यास वर्जित रहते हैं।

हिंदी आलोचना - आलोचना की परिभाषा, प्रकार

आलोचना या समालोचना किसी वस्तु विषय की, उसके लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उसके गुण-दोषों एवं उपयुक्तता का विवेचन करने वालि साहित्यिक विधा है। हिंदी आलोचना की शुरुआत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेंदु युग से ही मानी जाती है। 'समालोचना' का शाब्दिक अर्थ है - 'अच्छी तरह देखना'।

आलोचना शब्द 'लुच' धातु से बना है। 'लुच' का अर्थ है 'देखना'. समीक्षा और समालोचना शब्दों का भी यही अर्थ है। अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' शब्द के समानार्थी रूप में 'आलोचना' का व्यवहार होता है। संस्कृत में प्रचलित 'टीका-व्याख्या' और काव्य-सिद्धान्तनिरूपण के लिए भी आलोचना शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्पष्ट मत है कि आधुनिक आलोचना, संस्कृत के काव्य-सिद्धान्त निरूपण से स्वतंत्र चीज है। आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गणु और अर्थव्यस्था का निर्धारण करना।

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने आलोचना की परिभाषा इन शब्दों में दी है– यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। अर्थात् आलोचना का कर्त्तव्य साहित्यक कृति की विश्लेषण परक व्याख्या है। साहित्यकार जीवन और अनभुव के जिन तत्त्वों के संश्लेषण से साहित्य रचना करता है, आलोचना उन्हीं तत्त्वों का विश्लेषण

करती है। साहित्य में जहाँ रागतत्त्व प्रधान है वहाँ आलोचना में बुद्धि तत्त्व. आलोचना ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों और शिस्तयों का भी आकलन करती है और साहित्य पर उनके पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करती है।

व्यक्तिगत रुचि के आधार पर किसी कृति की निन्दा या प्रशंसा करना आलोचना का धर्म नहीं है। कृति की व्याख्या और विश्लेषण के लिए आलोचना में पद्धति और प्रणाली का महत्त्व होता है। आलोचना करते समय आलोचक अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष, रुचि-अरुचि से तभी बच सकता है जब पद्धति का अनुसरण करे। वह तभी वस्तुनिष्ठ होकर साहित्य के प्रति न्याय कर सकता है। इस दृष्टि से हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सर्वश्रेष्ठ आलोचक माना जाता है।

आलोचना के प्रकार

आलोचना करते समय जिन मान्यताओं और पद्धतियों को स्वीकार किया जाता है, उनके अनुसार आलोचना के प्रकार विकसित हो जाते हैं। सामान्यत: समीक्षा के चार प्रकारों को स्वीकार किया गया है–

(i) सैद्धान्तिक आलोचना
(ii) निर्णयात्मक आलोचना
(iii) प्रभावाभिव्यजंक आलोचना
(iv) व्याख्यात्मक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य के सिद्धान्तों पर विचार होता है। इसमें प्राचीन शास्त्रीय काव्यांगों - रस, अलंकार आदि और साहित्य की आधुनिक मान्यताओं तथा नियमों की मुख्य रूप से विवचेना की जाती है। सैद्धान्तिक आलोचना में विचार का बिन्दु यह है। कि साहित्य का मानदंड शास्त्रीय है या ऐतिहासिक. मानदंड का शास्त्रीय रूप, स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है, किन्तु मानदंडों को ऐतिहासिक श्रेणी मानने पर उनका स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है। दोनों प्रकार की सैद्धान्तिक आलोचनाएँ उपलब्ध हैं। किन्तु अब उसी सैद्धान्तिक आलोचना का महत्त्व अधिक है, जो साहित्य के तत्त्वों और नियमों की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकासमान मानती है।

निर्णयात्मक आलोचना

निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर जब साहित्य के गणु-दोष, श्रेष्ठ-निकृष्ट का निर्णय कर दिया जाता है तब उसे निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं। इसे एक प्रकार की नैतिक आलोचना भी माना जाता है। इसका मुख्य स्वभाव न्यायाधीश की तरह साहित्यक कृतियों पर निर्णय देना है। ऐसी आलोचना प्राय: ही सिद्धान्त का यांत्रिक ढंग से उपयोग करती है। इसलिए निर्णयात्मक आलोचना का महत्त्व कम हो जाता है।

यद्यपि मूल्य या श्रेष्ठ साहित्य और निकृष्ट साहित्य का बोध पैदा करना आलोचना के प्रधान धर्मों में से एक है, लेकिन वह सिद्धान्तों के यांत्रिक उपयोग से नहीं सभंव है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में निर्णयात्मक आलोचना के विषय में बताया गया है–

वह कृतियों की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता के सबंधं में निर्णय देती है। इस निर्णय में वह साहित्य तथा कला संबन्धी नियमों से सहायता लेती है, किन्तु ये नियम साहित्य और कला के सहज रूप से सबंधंन रख वाह्य रूप से आरोपित हैं।

इस प्रकार आलोचना में निर्णय विवाद का बिन्दु उतना नहीं है जितना निर्णय के लिए अपनाया गया तरीका। जैसे रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में मूल्य निर्णय है, लेकिन उसका तरीका सृजनात्मक है, यांत्रिक नहीं। निर्णयात्मक आलोचना में मूल्य और तरीका, दोनों ही में लचीलापन नहीं होता।

प्रभावाभिव्यजंक आलोचना

इस आलोचना में काव्य का जो प्रभाव आलोचक के मन पर पड़ता है उसे वह सजीले पद-विन्यास में व्यस्त कर देता है। इसमें वैयक्तिक रुचि ही मुख्य है। प्रभावाभिव्यजंक समालोचना कोई ठक-ठकाने की वस्तु नहीं है। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका मूल्य है न भाव के क्षेत्र में।

आलोचना की संस्कृति और आचार्य रामचंद्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के पहले प्रोफेसर-आलोचक हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि आलोचना और संस्थान के बीच गहरा रिश्ता हुआ करता है। नामवर सिंह ने 'वाद विवाद संवाद' के एक निबंध में एफ.आर. लीविस के हवाले से इस संदर्भ में विस्तार से लिखा है। दूसरी बात

यह कि शुक्ल जी केवल हिंदी साहित्य के आलोचक नहीं हैं। वे भारतीय आलोचना की उस महान परंपरा एवं संस्कृति की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं, जो भरतमुनि से शुरू होती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह कि हमारे जमाने में केवल सिद्धांत बघारकर खुद को 'महान' घोषित करने-करवाने वाले कुछ आलोचकों की तरह वे शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक मात्र नहीं हैं। ऐसे भी शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक प्राय: पूरी तरह विश्वसनीय नहीं होता है। जब तक सैद्धांतिक आलोचना के सुनिर्णीत प्रतिमानों के आधार पर श्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभाओं की सही-सही व्याख्या नहीं होती, तब तक वह आलोचना केवल सहित्य का ज्ञान कांड बनकर रह जाने के लिए अभिशप्त होती है। रामचंद्र शुक्ल ने अपने आलोचना सिद्धांत का निरूपण अतीत की महान साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के साथ ही अपने समय के श्रेष्ठ साहित्य को जानने-समझने के क्रम में किया है। उनकी आलोचना सच्चे अर्थों में 'सभ्यता समीक्षा' सिद्ध होती है। इसलिए उनके आलोचना सिद्धांत को किसी एक आयाम में बाँधा नहीं जा सकता है। उनकी सबसे बड़ी खूबी वह अद्वितीय रसार्द्रता एवं रसग्राहिता शक्ति है, जिसके बल पर वे हिंदी साहित्येतिहास और आलोचना के क्षेत्र में उस जमाने में प्रचलित 'कवि-कीर्तन' की परंपरा का निषेध करते हुए सैद्धांतिक वाग्जाल से हटकर हर तरह की रचनाओं के मर्म का उद्घाटन करने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

सिद्धों और नाथों के साहित्य पर विचार करते हुए शुक्ल जी 'सांप्रदायिक शिक्षा' बनाम 'शुद्ध साहित्य' का सवाल उठाते हैं। 'रामचरितमानस' की आलोचना के क्रम में वे मार्मिक स्थलों की पहचान पर बल देते हैं। 'रामचंद्रिका' की सीमाओं का निर्देश करते हुए वे साहित्य में स्थानीय रंगत का मुद्दा उठाते हैं। बिहारीलाल के प्रसंग में वे भाषा की समासशक्ति एवं समाहारशक्ति की बात करते हैं। मतिराम के कवित्व की चर्चा के दौरान वे 'रससिद्धांत और प्रसादपूर्ण भाषा रीति' तथा भारतीय गार्हस्थ्य जीवन से छाँटकर लिए हुए मर्मस्पर्शी चित्रों में भरे भाव की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। घनानंद पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि 'प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।' पंत के संदर्भ में वे सच्चे स्वच्छंदतावाद के आयाम को प्रस्तुत करते हैं। निराला पर बात करते हुए वे कवि की 'बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा' तथा 'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने' के उनके प्रयास को रेखांकित करते हैं।

कहना न होगा कि जो आलोचक इतने सारे कोणों से साहित्य पर दृष्टिपात कर रहा हो, उसे केवल रसवादी या लोकवादी आचार्य कहकर छुट्टी पा लेना कतई जायज नहीं है। शुक्ल जी हमारी भाषा और साहित्य के एक महान व्यक्तित्त्व हैं, जिन्होंने कदाचित पहली बार हजार वर्षों से विकसनशील हिंदी साहित्य की परंपरा को कायदे से साहित्येतिहास का स्थापत्य प्रदान किया। शुक्ल जी के निधन के ठीक पहले उनके अपराजेय व्यक्तित्त्व पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखा था कि 'भारतीय काव्यालोचनशास्त्र का इतना गंभीर और स्वतंत्र विचारक हिंदी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक से नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ।'

याद रहे कि कि रामचंद्र शुक्ल की महानता का एकमात्र कारण यही नहीं है, हालाँकि यह उनकी महानता का एक बहुत बड़ा कारण है। वस्तुतः उनकी वास्तविक महानता को हम भरत, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट की परंपरा में रखकर ही देख सकते हैं। कारण यह कि शुक्ल जी को भारतीय साहित्यशास्त्रीय चिंतन की उस परंपरा के पुनराख्यान का श्रेय प्राप्त है, जिसका आरंभ भरतमुनि से और अंत मध्यकाल में मम्मट के साथ हो गया था। मम्मट की पीठ पर रीतिकाल की परंपरा के जो आचार्य आए, उनकी शुक्ल जी के महान व्यक्तित्त्व से कोई तुलना नहीं हो सकती। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मम्मट के बाद दो-ढाई सौ वर्षों की आचार्यत्व की लंबी परंपरा के दौरान हमारी आलोचना के अंतर्गत किसी विशिष्ट प्रतिमान या उल्लेखनीय मूल्य का निर्धारण नहीं हो सका। सच तो यह है कि किसी भी भाषा या साहित्य में रामचंद्र शुक्ल जैसा व्यक्तित्व अपने समय की सभ्यता एवं संस्कृति के भीतर गहरे आलोड़न तथा उसकी आंतरिक माँग के दबाब के तहत पैदा होता है।

शुक्ल जी के समय में संस्कृतिकर्मियों एवं बुद्धिजीवियों के सामने पश्चिम के बौद्धिक उपनिवेशवाद के चलते पैदा हुई चुनौतियाँ थीं, जिसने माइकल मधुसूदन दत्त के समय से ही भारतीय मनीषा को आक्रांत कर लिया था। मैनेजर पांडेय द्वारा संपादित सखाराम गणेश देउसकर की पुस्तक 'देशेर कथा' के 'सम्मोहन चित्त विजय' वाले अध्याय में विस्तार के साथ बतलाया गया है कि अँग्रेजी राज ने किस हद तक भारतीय शिक्षित समुदाय की 'साइकी' या मनीषा को सम्मोहित कर लिया था। ऐसे में भारतीय साहित्य एवं समालोचना के क्षेत्र में भी बड़ी तेजी के साथ पश्चिम के सारे मूल्य प्रतिष्ठित होते चले जा रहे थे

और राजनीतिक गुलामी के साथ-साथ ज्ञान के विविध क्षेत्रों को भी उपनिवेशवाद की मानसिक गुलामी ने जकड़ रखा था। परिणामतः हमारी अपनी मौलिक सोच-समझ क्षीण हो रही थी। उपनिवेशवाद की इस बौद्धिक चुनौती का सामना शुक्ल जी ने पुरजोर ढंग से साहित्यालोचन के धरातल पर किया। उन्होंने लिखा कि आजकल पाश्चात्यवाद वृक्षों के पत्ते, कुछ हरे नोंच लाए गए कुछ सूखे गिरे हुए, यहाँ पारिजात पत्रों की भाँति प्रदर्शित किए जा रहे हैं। इसलिए उन पेड़ों की परीक्षा आवश्यक है, जिनके ये पत्ते हैं। वे हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने साहित्य चिंतन के क्षेत्र में व्याप्त मध्ययुगीन मिथकीय वातावरण को अपनी प्रतिभा से ध्वस्त कर साहित्य मीमांसा को बहुत हद तक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। जर्मन विद्वान हेकेल की पुस्तक 'द रिड्ल ऑफ यूनिवर्स' का उन्होंने 'विश्वप्रपंच' नाम से अनुवाद करके उसकी जो तकरीबन सवा सौ पृष्ठों की पांडित्यपूर्ण भूमिका लिखी, वह आज भी हिंदी के विचार साहित्य की अद्वितीय एवं अमूल्य निधि है। जब पूरी दुनिया में डार्विन का विकासवाद जोर-शोर से फैल रहा था और सृष्टि की विकासमूलक व्याख्या की जा रही थी, तब उन्होंने भारतीय मिथकीय परंपरा में प्रचलित अवतारों की कथा का पहली बार वैज्ञानिक परिदृश्य के साथ मेल दिखाया। इस प्रकार शुक्ल जी न केवल वैज्ञानिक पद्धति के तहत मिथकीय परंपरा पर विचार करते हैं, बल्कि मिथकीय परंपरा को भी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं। 'विश्वप्रपंच' की भूमिका के माध्यम से वे साहित्यानुशीलन के लिए वैज्ञानिक एवं सामाजिक धरातल की जरूरत पर बल देते हुए साहित्य को व्यक्ति केंद्रित संकीर्ण घेरे से बाहर निकालकर एक ठोस सामाजिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं। अपने जमाने में प्रचलित अनेकानेक आध्यात्मिक एवं धार्मिक मान्यताओं का खंडन करते हुए उन्हें वे साहित्य क्षेत्र से बाहर की वस्तु करार देते हैं। 'रस मीमांसा' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है–'अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।' इसी प्रकार जब वे धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन करते हैं, तो उनका लहजा कबीर की तरह आक्रामक दिखाई देता है–ष्ईश्वर साकार है कि निराकार, लंबी दाढ़ी वाला है कि चार हाथ वाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठाने वालों से, इन बातों पर विवाद करने वाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे। इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है, उनके संबंध में जो पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ (छः दिनों में सृष्टि की उत्पत्ति, आदम-हौवा का

जोड़ा, चौरासी लाख योनि, आदि) हैं, वे अब काम नहीं दे सकतीं।' वस्तुतः शुक्ल जी ने विकासवाद के सिद्धांत के तहत साहित्य को व्यक्ति के सामाजिक जीवन से अविछिन्न बताते हुए उसके समाजोन्मुख रूप पर बल दिया। अपनी इसी भूमिका में उन्होंने लिखा–विकास परम सत्य है, बड़े महत्व का सिद्धांत है। सामाजिक उन्नति के लिए हमारे प्रयत्न इसलिए रचित हैं कि हम समष्टि के अंग हैं, अंग भी ऐसे कि चेतन हो गए हैं। अतः समष्टि में उद्देश्य-विधान का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि हम उसके एक अंग होकर अपने-आपमें उसका अनुभव करते हैं।'

रामचंद्र शुक्ल जहाँ एक हद तक भौतिकवादी थे और साहित्य को समाज का वस्तुगत उत्पाद मानते थे, वहीं दूसरी ओर वे संस्कार की दृष्टि से सच्चे अर्थों में वैष्णव थे। आम तौर पर भौतिकवाद और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के साथ वैष्णव संस्कार की परंपरा परस्पर विरोधी प्रतीत होती है। पर शुक्लजी के व्यक्तित्त्व में हमें 'विरुद्धों का सामंजस्य' दिखाई देता है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर वे वस्तुवादी और बुद्धिवादी के बजाय चौतन्यवादी प्रतीत होते हैं और इस प्रकार वे हेगेल की अपेक्षा इमानुएल कांट के ज्यादा निकट दिखाई देते हैं। दूसरे शब्दों में वे संसार को भ्रम और मिथ्या बताने वाले शंकराचार्य की तुलना में जगत को परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानने वाले रामानुज के करीब सिद्ध होते हैं। संभवतः इसी कारण उन्होंने धर्म को सर्वत्र व्यक्तिगत साधना के बजाए लोकमंगल के अस्त्र के रूप में रेखांकित किया है। जगह-जगह सामाजिक स्थिति और रचनाकर्म के बीच कारण-कार्य संबंध स्थापित करने की कोशिश के चलते नलिन विलोचन शर्मा ने उन्हें साहित्य का विधेयवादी (पोजिटिविस्ट) इतिहासकार बतलाया है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि शुक्ल जी विधेयवादी हैं, पर आश्चर्यजनक नव्यता के साथ।

स्मरणीय है कि सच्चा वैष्णव बुनियादी तौर पर विद्रोही हुआ करता है। चूँकि वह चापलूस या खुशामदी कदापि नहीं हो सकता, इसलिए दरबारी वातावरण उसको रास नहीं आता। वैष्णवता की इसी सत्यनिष्ठ भावभूमि से हिंदी के इस प्रथम महान आलोचक का जन्म हुआ, जिसे जनसामान्य से विलग रहने वाले राजदरबारी खुशामदी रीतिकवियों के बजाए जनभावना एवं जनमानस के ज्यादा करीब रहने वाले निःस्वार्थ भक्त कवि अच्छे लगे।

शुक्ल जी मोटे तौर पर गांधी-युग के लेखक थे और कहना न होगा कि उस युग में गांधीवाद के प्रभाव से मुंशी प्रेमचंद जैसे यथार्थदर्शी कलाकार भी

किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित थे। गांधी का वैष्णवता में गहरा विश्वास था और रामचंद्र शुक्ल भी उसी भावभूमि की उपज थे। परंतु तोल्सतोय, गांधी आदि महापुरुषों की 'निष्क्रिय प्रतिरोध' एवं 'दुर्जनों-दुष्टों' से भी सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने वाली भावना का जमकर विरोध करते हुए शुक्ल जी ने 'रस मीमांसा' में लिखा कि 'दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती... मनुष्य के शरीर में जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।' शुक्ल जी की आलोचना-दृष्टि में हमें एक ओर अन्याय के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध की चेतना दिखाई पड़ती है, तो दूसरी ओर चापलूसी और खुशामद करने या चाहने वाली सामंती-दरबारी मानसिकता के प्रति वितृष्णा भी। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदी कवियों को सच्चा कवि मानने से इनकार करते हुए वे लिखते हैं कि 'ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता देवी के मंदिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूँढ़ा करते, वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौंदर्य का दर्शन करते हैं, जिसकी छाया महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।'

जाहिर है कि शुक्ल जी के पूर्व रीतिकाव्य का विरोध आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया था। पर शुक्लजी ने इस विरोध को एक सामाजिक-सांस्कृतिक आधार प्रदान किया। रीतिकवियों पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने लिखा कि एक ओर ऐसे कविराज थे, जो राजाओं के मुँह में मकरध्वज डालते थे तो दूसरी ओर उनके कान में मकरध्वज डालने वाले कविराज भी थे। इस प्रकार शुक्ल जी रीतिवाद का विरोध करते हुए प्रकारांतर से सामंती विलासिता एवं भोगवाद के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं और इसी क्रम में उनके आलोचनात्मक प्रतिमान निर्धारित होते हैं, जिनके मूल में लोकमंगल की भावना निहित है।

गौरतलब है कि हिंदी आलोचना में 'लोक' शब्द का इतने व्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय रामचंद्र शुक्ल को ही प्राप्त है और उनके लिए

लोक का अर्थ है 'जगत'। उनकी यह धारणा अँग्रेजी के 'फोक' या हिंदी में उसी अर्थ में अनुदित 'लोक' से भिन्न एवं व्यापक धारणा है। अध्यात्मवादियों की तरह लोक को जड़ और स्थिर मानने के बजाए उनका लोक-जगत सत्य एवं विकसनशील है। मनुष्य के सारे ज्ञान एवं अनुभूतियों को लोकाधृत मानते हुए वे लिखते हैं कि 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।' लोकचित्तवृत्ति के काव्य परंपरा के साथ सामंजस्य के संदर्भ में कविता की पहचान निरुपित करते हुए उन्होंने लिखा है–'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य की भावभूमि पर ले जाती है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता ही नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है।' उनकी स्पष्ट धारणा है कि लोक हृदय की सच्ची पहचान के बगैर कोई सही मायने में कवि या कलाकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि कला और जीवन का लोकपाक धरातल समरूप है। यदि गंभीरतापूर्वक विचारें, तो स्पष्ट होगा कि शुक्लजी का साधारणीकरण वाला सिद्धांत भी लोकानुभूतिपरक ही है। इस प्राचीन काव्यशास्त्रीय प्रत्यय व पद्धति को वे अपनी लोकवादी दृष्टि के अनुरूप यथार्थ की भूमि पर आधृत करके अनुभवगम्य लौकिक भावभूमि प्रदान करते हैं। वे मानते हैं कि लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित हुए बगैर केवल रसवाद की कसौटी पर श्रेष्ठ साहित्य की रचना असंभव है।

विचित्र बात है कि जिन रामचंद्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' की रचना की, उन्होंने ही 'रसवाद' के विरुद्ध खंडनात्मक रुख भी अख्तियार किया। 'रसवाद' के खिलाफ पोलेमिक्स रचने की सबसे बड़ी वजह यह थी कि मध्यकाल तक आते-आते 'रस सिद्धांत' का सत्व स्खलित हो चुका था तथा उसकी 'सैद्धांतिक गतिकी' या 'गतिमय सिद्धांत की' जड़ता की अवस्था में पहुँच चुकी थी। इस ओर इंगित करते हुए वे लिखते हैं–'रीतिग्रंथों की बदौलत रसदृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो उद्दीपन में डाल दिए गए और कुछ भावक्षेत्र से निकाले जाकर अलंकार के खाते में हाँक दिए गए। ...हमारे यहाँ के कवियों को रीतिग्रंथों ने जैसा चारों ओर से जकड़ा, वैसा और कहीं के कवियों को नहीं। इन ग्रंथों के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो गई, लक्षणों की कवायद पूरी करके वे अपने कर्त्तव्य की समाप्ति मानने लगे। वे इस बात को भूल चले की किसी वर्णन का उद्देश्य श्रोता के हृदय पर प्रभाव डालना है।' शुक्ल जी इस

बात से बिल्कुल बेखबर नहीं थे कि प्राय: काव्यशास्त्र या आलोचना के महान कहे जाने वाले प्रतिमानों में अपनी तरह के आलोचकीय वर्चस्व के बीज छिपे होते हैं। इसी वजह से प्रतिमानों की बहुलता और उनकी विशिष्ट मुखरता-विधियों से निरंतर लोकतांत्रिक आलोचनात्मक संबंध बनाने के उनके बौद्धिक परिश्रम में भी इस वर्चस्व के प्रतिरोध की एक विधि अवश्य निहित है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है – 'भाव भेद रस भेद अपारा।' स्पष्ट ही भाव और रस को किसी संख्या में बाँधना असंभव है। काव्यशास्त्र में वर्णित नौ रस तो वस्तुत: उपलक्षण मात्र हैं। वे कदापि अंतिम नहीं माने जा सकते। दूसरे शब्दों में कहें, तो जब भी कोई बड़ी प्रतिभा जन्म लेती है, तो वह अपने कृतित्त्व से भावक्षेत्र और रसक्षेत्र का विस्तार करती है। उदाहरण के लिए सूरदास जैसे कवि के चलते 'वात्सल्य' रस की कोटि में शुमार हुआ। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर सरीखे कवियों के कृतित्त्व ने राष्ट्रीयता को रस की ऊँचाई तक पहुँचा दिया।

रीतिग्रंथों की समस्या यह थी कि इनके चलते साहित्य में भावक्षेत्र अत्यंत संकुचित हो गया था। सबसे पहले भोज ने, जो एक सामंत था, 'शृंगारप्रकाश' नामक ग्रंथ लिखकर शृंगार को 'रसराज' के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके परिणामस्वरूप अन्य रस काव्यक्षेत्र से लगभग बहिष्कृत हो गए। इतना ही नहीं, मध्यकाल में शृंगार के नाम पर जो रचनाएँ लिखी जा रही थी, उनमें से ज्यादातर में श्रोता या पाठक के मन को किसी उज्ज्वल ऊँचाई पर पहुँचाने की सामर्थ्य के बजाए छिछली रसिकता थी। हिंदी में केशवदास की रसिकता सर्वविदित है। बुढ़ापे में सुंदर स्त्रियों द्वारा 'बाबा' कहे जाने पर उन्हें जो पीड़ा हुई थी, उसके मद्देनजर वे कथित तौर पर एक बड़े 'रसिक' जीव सिद्ध होते हैं।

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि कहि जाहिं।।

गौरतलब है कि ऐसे रसिक व्यक्ति के बारे में शुक्ल जी ने लिखा–'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता भी न थी, जो एक कवि में होनी चाहिए। ...प्रबंधकाव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। ...वे वर्णन वर्णन के लिए करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। ...केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करने वाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति, जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तुवर्णन के लिए।' परंपरा से कवियों का जो पदानुक्रम बना हुआ था, उसमें सूरदास और तुलसीदास

के बाद केशवदास को तीसरा स्थान प्राप्त था। मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में तो केशवदास को बहुत ऊँचा दर्जा दिया गया था। कहने की जरुरत नहीं कि आचार्य शुक्ल ने इस पूरे पदानुक्रम को इस हद तक बदल दिया कि डॉ. नगेंद्र की लाख कोशिशों के बावजूद केशव को खोई हुई प्रतिष्ठा वापस नहीं मिल सकी। बीसवीं शताब्दी में हिंदी साहित्य में आधुनिकतावाद के शलाका पुरुष कहे जाने वाले अज्ञेय ने 'केशव की कविताई' शीर्षक निबंध लिखकर केशव को हिंदी कविता की परंपरा की मुख्यधारा से जोड़ने की जबरदस्त पेशकश की, परंतु एक बार शुक्ल जी द्वारा मुख्यधारा से बाहर कर दिए जाने के बाद पुनः उसमें उनकी वापसी संभव न हो पाई। इससे पता चलता है कि कैसे बड़ा आलोचक अपने आलोचनात्मक मूल्यों के तहत साहित्येतिहास में कवियों के पहले से बने बनाए पदानुक्रम को बदल देता है। अँग्रेजी साहित्य के इतिहास में एलियट के पूर्व शेली, कीट्स और बायरन को आधुनिक काल में महाकवि का दर्जा प्राप्त था। परंतु इलियट के बाद जॉन डन, विलियम ब्लेक जैसे दार्शनिक कवियों को केंद्रीय स्थान मिला। रामचंद्र शुक्ल ने केशवदास को अपदस्थ कर मलिक मुहम्मद जायसी का उद्धार किया और हिंदी साहित्य में सूर एवं तुलसी के बराबर उन्हें स्थान दिया। स्मरणीय है कि मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में जायसी को शामिल नहीं किया गया था। जायसी के 'पद्मावत' में नागमती के विरह वर्णन को शुक्ल जी हिंदी साहित्य में अद्वितीय घोषित करने के साथ ही मध्यकाल में जायसी को हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वाले कवियों में एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में स्थापित करते हैं। उनका मानना था कि भक्तिकाव्य संस्कृत काव्यशास्त्र के सामने चुनौती है और कहना न होगा कि इस चुनौती का अपने स्तर पर उन्होंने सामना भी किया।

वस्तुतः शुक्ल जी का रीतिवाद-विरोध उनकी सामंत-विरोधी चेतना की सांस्कृतिक प्रतिध्वनि है। इसीके चलते वे रीति कवियों के बजाए भक्त कवियों को तरजीह देते हैं और आगे चलकर भारतेंदु हरिशचंद्र को उनकी सामाजिक चेतना के मद्देनजर आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। दूसरे शब्दों में अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक क्षयिष्णु परंपरा से लोहा लेते हुए शुक्ल जी रसवादी होने के बावजूद अपनी आलोचना में प्रकारांतर से रसवाद के विरुद्ध खंडनात्मक रुख अख्तियार करते हैं, 'पॉलेमिक्स' रचते हैं। इसके साथ ही वे पश्चिम के औपनिवेशिक वैचारिक एवं सांस्कृतिक आक्रमण से भी दो-चार होते हैं। उस जमाने में फ्रांस में उत्पन्न बहुत सारे वाद

इंग्लैंड से होते हुए बंगाली भाषा के माध्यम से भारत में घुसपैठ कर रहे थे। सन् 1890 में रवींद्रनाथ की 'निर्झरेर स्वप्नभंग' कविता प्रकाशित हुई थी और तब तक उनकी ख्याति धीरे-धीरे पूरे भारत में फैल गई थी, जिसका प्रभाव हिंदी की आरंभिक छायावादी कविता पर बहुत हद तक पड़ा था। इतने बड़े माने जाने वाले भारतीय कवि के बारे में शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा कि वे बहुत बड़े आलंकारिक मालूम पड़ते हैं। इसी प्रकार उस जमाने में लिखी जा रही छायावादी कविताओं की अभिव्यंजना शैली एवं उनमें निहित रहस्यात्मकता का विरोध करते हुए उनका कहना था कि 'छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र, वस्तुविन्यास की विश्रृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभावपक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरोन्मुख काव्यक्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया।' आज यह सर्वविदित है कि शुक्ल जी की आलोचना से कालांतर में छायावाद में गुणात्मक परिवर्तन आया और वह आगे चलकर समृद्ध हुआ। नतीजतन उसमें 'कामायनी' एवं 'राम की शक्तिपूजा' जैसी श्रेष्ठ कविताओं की रचना संभव हो सकी।

वे हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने 1929 ई. में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' जैसा महत्वपूर्ण निबंध लिखा और यह जानी हुई बात है कि यह निबंध छायावादी काव्यांदोलन की छाया में लिखा गया था। तब तक छायावाद के कई कवि अनेकानेक प्रकृति विषयक कविताएँ लिख चुके थे, जिनमें पंत का 'पल्लव' संग्रह सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ऐसे में शुक्ल जी अपनी पूरी साहित्यिक परंपरा का संधान करते हुए इस संदर्भ में वाल्मीकि की महानता पर प्रकाश डालते हैं और छायावाद की शक्ति एवं सीमा का निर्देश करते हैं। वे छायावाद के हृदय पक्ष को स्वीकृति प्रदान करते हैं, लेकिन उस पर हावी अभिव्यंजनावादी तत्त्वों को अस्वीकार करते हैं। अभिव्यंजनावाद उन्हें एक तरह का अलंकारवाद प्रतीत होता है, जिसे वे 'वक्रोक्तिवाद के विलायती उत्थान' के रूप में अभिहित करते हैं। इस प्रसंग में प्रकृति के चितेरे कवि माने जाने वाले सुमित्रनंदन पंत के बारे में वे लिखते हैं कि 'पंतजी की 'छाया', 'वीचिविलास', 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर लगा है, उनमें से बहुत से तो अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यंजक है और बहुत से रंग-बिरंगे खिलौनों के रूप में ही हैं।

ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यंजनावाद' के उदाहरण-सी लगती है, जिसके अनुसार कविकल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है। प्रकृति के सच्चे स्वरूप, उसकी सच्ची व्यंजना... करना उक्त वादों के अनुसार आवश्यक नहीं। प्रकृति के नाना चित्रों के द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करना तो बहुत ठीक है, पर उन भावनाओं को व्यक्त करने को स्वाभाविक प्रवृत्ति भी तो गृहीत चित्रों में होनी चाहिए।' इसी प्रकार 'रहस्यवाद' को भी उस जमाने की हिंदी कविता के स्वाभाविक विकास में बाधक मानते हुए उन्होंने लिखा कि 'हिंदी में स्वच्छंदतावाद का प्रवाह रवींद्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं के अतिरिक्त प्रभाव तथा अँग्रेजी से तरह-तरह के लाक्षणिक प्रयोगों के ज्यों के त्यों हिंदी अनुवाद जड़ी रचनाओं के चलते अवरुद्ध हुआ। 'कनक प्रभात', 'विचारों में बच्चों की साँस', 'स्वर्ण समय', 'प्रथम मधुबाल', 'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल क्रांति', ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। ...काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तुयोजना चाहे लोकोत्तर हो, पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात स्वाभाविक वासनाजन्य हो।

भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा, तो हृदय से उसका संबंध क्या रहेगा?' कहना न होगा कि शुक्लजी की आलोचना के बाद अभिव्यंजनावाद एवं रहस्यवाद का धुंधलका छंट जाता है और छायावाद प्रौढ़ता प्राप्त करता है। उनकी धारणा थी कि स्वच्छंदतावाद लोकजीवन की सरलता, सरसता से आप्लावित एक ऐसा काव्यांदोलन था, जिसमें प्राचीन रुढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव था। हिंदी में उन्हें इसका आरंभिक रूप श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्य में जब दिखाई पड़ा, तो उन्होंने इसकी सराहना की। परंतु जब छायावाद के नाम पर रचित ज्यादातर कविताओं में उन्हें अभिव्यंजनावाद के साथ-साथ गुंजलक मारकर बैठी रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ प्रचुर मात्रा में दिखाई देने लगीं, तो एक जिम्मेदार आलोचक के तौर पर उन्होंने इसकी बखिया उधेड़नी शुरू की। वस्तुतः छायावादी कविता में मौजूद रहस्यवादी चेतना का शुक्लजी की वैज्ञानिक परिदृष्टि से कोई मेल नहीं बैठ रहा था। बावजूद इसके यह ध्यान देने योग्य बात है कि कविता में जहाँ-जहाँ रहस्यवाद अपनी पूरी स्वाभाविकता के साथ संचरण करता है, उसका समर्थन करने में शुक्ल जी कदापि नहीं हिचकते। उदहारण के लिए पंत की 'स्वप्न' एवं 'मौन नियंत्रण' कविता उन्हें रहस्यवाद की स्वाभाविक भूमि पर संचरित होती दिखाई देती है। उन्होंने लिखा है – 'पंतजी

की रहस्यभावना स्वाभाविक है, सांप्रदायिक (डागमेटिक) नहीं। ऐसी रहस्यभावना इस रहस्यमय जगत के नाना रूपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी-कभी उठा करती है। ...'गुंजन' में भी पंतजी की रहस्यभावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है।' उनके ऐसे अनेकानेक वक्तव्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि वे दुराग्रही आलोचक नहीं थे।

कविता को शुक्लजी ने भाव-व्यापार माना है और इस क्रम में 'हृदय की मुक्तावस्था' या रसदशा को महत्व प्रदान कर उन्होंने कदाचित इसे पुष्ट भी किया है। उनके अनुसार लोक हृदय मंत लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है। स्मरणीय है कि भाव पर बल देने के बावजूद वे रूप को नकारते नहीं है। उन्होंने लिखा है कि 'जगत अनेक रूपात्मक है और हमारा हृदय अनेक भावात्मक है।' उनके अनुसार कवि का काम इन दोनों के बीच रागात्मक संबंध कायम करना है। इतना ही नहीं, वे भावना को ज्ञान का सहचर मानते हैं। उन्होंने भाव को प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का गूढ़ संश्लेष बताते हुए यह भी लिखा है कि 'दूसरे के अंतर्गत आलंबन के प्रति अनुभूति विशेष के बोध के अतिरिक्त अनेक प्रकार की भावनाएँ और विचार भी आ जाते हैं।' कवियों की 'अंतर्वृति का सूक्ष्म व्यवच्छेद' करने के पूर्व शुक्लजी उनके जीवन-वृत्त से भी पाठकों को अवगत कराते हैं। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में कवि का जीवन, उसकी विचारधारा, भावबोध, शिल्प आदि की परस्पर-संबद्धता से ही काव्यार्थ निर्मित होता है। यह ठीक ही कहा गया है कि कवि एक ओर ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ होती है, तो दूसरी ओर वह उन वस्तुओं के अनुरूप भावों का अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है और कविता में कवि कर्म विधान के ये दोनों पहलू अन्योन्याश्रित होते हैं। परंतु ध्यान देने की बात है कि यदि 'अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना ही कवि कर्म है', तो यह कार्य वस्तुनिष्ठ तथ्यों का सहारा लिए बगैर असंभव है। इलियट के शब्दों में कहे, तो बिना वस्तुगत प्रतिरूप के किसी भाव या अनुभूति को दूसरों तक संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

रामचंद्र शुक्ल का एक बहुत बड़ा अवदान है 'रस निष्पत्ति' को रहस्य के आवरण से बाहर निकालकर उनके मनोवैज्ञानिक रूप की प्रतिष्ठा। 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि ने रस की निष्पति के बारे में लिखा है।

'विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पतिः।' वस्तुतः यह प्रक्रिया एक मनोदैहिक (साइकोसोमैटिक) प्रक्रिया है। परंतु भरत के बाद भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन पर विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों एवं निकायों का इतना ज्यादा असर हुआ कि अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत सिद्धांत के आधार पर रस को आनंदमय मानते हुए बल देकर कहा कि यह आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। कालांतर में रस को आनंदस्वरूप मानकर उसे ब्रह्म के साहचर्य से आत्मा को प्राप्त होने वाले तथाकथित आनंद का सहोदर घोषित कर दिया गया। पंडितराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में लिखा -

''सत्वोद्रेकादखंडस्वप्रकाशानंद चिन्मयः
वेद्यांतरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः
लोकोत्तरचमात्कारप्राणरू कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः''

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने विवेचन में रस के आध्यात्मिक आनंदस्वरूप होने का खंडन करते हुए साफ लिखा कि 'अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई जरूरत नहीं है। ...इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है।.. उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।' 'रस मीमांसा' में एक लंबा उदाहरण देकर वे बतलाते हैं कि क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपने प्रकृत रूप का त्याग करके आनंदस्वरूप कदापि नहीं बनते। इसी प्रकार 'सत्यहरिश्चंद्र' की शैव्या के उदाहरण के द्वारा वे स्पष्ट करते हैं कि दुखात्मक भाव आनंद के बजाए दुःख की ही अनुभूति कराते हैं। प्राचीन मान्यता के अनुसार दुःख की अनुभूति रसात्मक नहीं मानी जाती थी। इसका खंडन करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि 'करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के संबंध में यह कहना कि आनंद में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुख भी रसात्मक होता है।' निश्चित तौर पर रसात्मक अनुभूति से व्यक्तित्त्व समृद्ध होता है, निजता का परिहार होता है और पाठक लोक हृदय में लीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में जब आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, तो हम उच्च कोटि की रसदशा को प्राप्त करते हैं। इस प्रक्रिया में आश्रय के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है। ऐसे तो आलंबन कोई व्यक्ति विशेष ही होता है, पर उसमें लेखक ऐसे गुणों एवं धर्मों की प्रतिष्ठा करता है, जो सबके हो जाते हैं और सबमें समान भावों की उत्पत्ति या अनुभूति कराते

हैं। इससे विलग जब श्रोता, पाठक या दर्शक काव्य या नाटक में आए किसी पात्र से शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करता है, तो शुक्लजी की दृष्टि में यह मध्यम कोटि की रस दशा है। उनके अनुसार उपरोक्त दोनों ही स्थितियों से भिन्न जब रचनाकार चमत्कार और वैचित्र्य से पाठक को आश्चर्य और कुतूहल मात्र की अनुभूति कराने की चेष्टा करता है, तो यह निम्न कोटि की रसदशा होती है, जिसके मूल में व्यक्तिवाद होता है।

विजयदेव नारायण साही की शब्दावली उधार लेकर कहें तो आलोचना यदि साहित्य का दर्शन शास्त्र है, जिसके तहत संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाया जाना जरूरी है, तो जाहिर तौर पर रामचंद्र शुक्ल एक भाववादी आलोचक एवं विचारक सिद्ध होते हैं। परंतु उनका भाववाद एक ऐसा विवेकशील भाववाद है, जो अंततः भौतिकवाद का सहयोगी सिद्ध होता है। सौंदर्यानुभूति-विषयक भाववादी धारणा के बजाए उनके दृष्टिकोण में भौतिकवाद के बीज विद्यमान हैं। उन्होंने लिखा है कि 'जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु से अलग सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।' आगे वे 'तदाकार परिणति' पद का प्रयोग करते हुए सिद्ध करते हैं कि 'सौंदर्य न तो मात्र चेतना में होता है और न ही सिर्फ वस्तु में, दोनों के संबंध से ही सौंदर्यानुभूति होती है।' वे जड़ता के बजाए गति में सुंदरता को रेखांकित करने के आग्रही हैं। भले ही वह गति सफल हो या विफल। शुक्ल जी की सौंदर्य-दृष्टि में निहित संघर्ष की चेतना तब और खुलकर सामने आती है, जब वह कहते हैं कि 'विफलता में भी एक निराला सौंदर्य होता है।'

इसलिए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि शुक्लजी के लिए आलोचना साहित्यिक कृतियों के निष्क्रिय रसास्वादन के बजाए एक सक्रिय मूल्यांकन है और उनका प्रत्येक मूल्यांकन गहरे वैचारिक संघर्ष का नतीजा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने सही लिखा है कि 'प्राचीन साहित्यशास्त्री स्थायी भावों को रसरूप में प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया का अंत निष्क्रियता में कर देते थे। शुक्ल जी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काट दी है।'

किसी राष्ट्र की संस्कृति के निर्माण में आलोचना की भूमिका की शिनाख्त करते हुए अज्ञेय ने कहा था—'हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा, क्योंकि आलोचना अनुभूति को गहरा और विस्तृत करती है, और

गहरी तथा विस्तृत अनुभूति के बिना संस्कृति संभव नहीं है।' इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना हिंदी में सांस्कृतिक आलोचना का प्रस्थान बिंदु सिद्ध होती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शुक्लजी के बारे में लिखा है–'आचार्य का विषय प्रतिपादन जैसा गुरु गंभीर है उसके बीच उनका सूक्ष्म व्यंग्य और तीव्र तथा पैना हो गया है, घनी-बड़ी मूँछों के बीच हल्की मुस्कान की तरह।'

2

हिन्दी नाटककार

हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। उस काल के भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने लोक चेतना के विकास के लिए नाटकों की रचना की इसलिए उस समय की सामाजिक समस्याओं को नाटकों में अभिव्यक्त होने का अच्छा अवसर मिला।

जैसाकि कहा जा चुका है, हिन्दी में अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच के निर्माण का श्रीगणेश आगाहसन 'अमानत' लखनवी के 'इंदर सभा' नामक गीति-रूपक से माना जा सकता है। पर सच तो यह है कि 'इंदर सभा' की वास्तव में रंगमंचीय कृति नहीं थी। इसमें शामियाने के नीचे खुला स्टेज रहता था। नौटंकी की तरह तीन ओर दर्शक बैठते थे, एक ओर तख्त पर राजा इंदर का आसन लगा दिया जाता था, साथ में परियों के लिए कुर्सियाँ रखी जाती थीं। साजिंदों के पीछे एक लाल रंग का पर्दा लटका दिया जाता था। इसी के पीछे से पात्रों का प्रवेश कराया जाता था। राजा इंदर, परियाँ आदि पात्र एक बार आकर वहीं उपस्थित रहते थे। वे अपने संवाद बोलकर वापस नहीं जाते थे।

उस समय नाट्यारंगन इतना लोकप्रिय हुआ कि अमानत की 'इंदर सभा' के अनुकरण पर कई सभाएँ रची गई, जैसे 'मदारीलाल की इंदर सभा', 'दर्याई इंदर सभा', 'हवाई इंदर सभा' आदि। पारसी नाटक मंडलियों ने भी इन सभाओं और मजलिसेपरिस्तान को अपनाया। ये रचनाएँ नाटक नहीं थी और न ही इनसे हिन्दी का रंगमंच निर्मित हुआ। इसी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनको

'नाटकाभास' कहते थे। उन्होंने इनकी पैरोडी के रूप में 'बंदर सभा' लिखी थी।

हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र

इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना के व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक साहित्यिक प्रयास तो हुए पर हिन्दी का वास्तविक और स्थायी रंगमंच निर्मित और विकसित नहीं हो पाया था। सन् 1850 ई. से सन् 1868 ई. तक हिन्दी रंगमंच का उदय और प्रचार-प्रसार तो हुआ पर उसका सुरुचिपूर्ण विकास और स्थायी निर्माण नहीं हो सका था। पारसी नाटक मंडलियों के अतिरिक्त कुछ और भी छुटपुट व्यावसायिक मंडलियाँ विभिन्न स्थानों पर निर्मित हुईं पर साहित्यिक सुरुचि सम्पन्नता का उनमें भी अभाव ही रहा।

व्यावसायिक मंडलियों के प्रयत्न में हिन्दी रंगमंच की जो रूपरेखा बनी थी, प्रचार और प्रसार का जो काम हुआ था तथा इनके कारण जो कुछ अच्छे नाटककार हिन्दी को मिले थे-उस अवसर और परिस्थिति का लाभ नहीं उठाया जा सका था। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुंदर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किंतु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। भारतेन्दु के पूर्ववर्ती नाटककारों में रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह (1846-1911) के बृजभाषा में लिखे गए नाटक 'आनंद रघुनंदन' और गोपालचंद्र के 'नहुष' (1841) को अनेक विद्वान हिंदी का प्रथम नाटक मानते हैं। यहाँ यह जानना रोचक हो सकता है कि गोपालचंद्र, भारतेन्दु हरिश्चंद्र के पिता थे।

हिन्दी के विशुद्ध साहित्यिक रंगमंच और नाट्य-सृजन की परम्परा की दृष्टि से सन् 1868 ई. का बड़ा महत्त्व है। भारतेन्दु के नाटक-लेखन और मंचीकरण का श्रीगणेश इसी वर्ष हुआ। इसके पूर्व न तो पात्रों के प्रवेश-गमन, दृश्य-योजना आदि से युक्त कोई वास्तविक नाटक हिन्दी में रचा गया था। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्दर चित 'नहुष' तथा महाराज विश्वनाथसिंह रचित 'आनंदरघुनंदन' भी पूर्ण नाटक नहीं थे। न पर्दों और दृश्यों आदि की योजना वाला विकसित रंगमंच ही निर्मित हुआ थाय नाट्यारंगन के अधिकतर प्रयास भी अभी तक मुंबई आदि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही हुए थे और भाषा का स्वरूप भी हिन्दी-उर्दू का मिश्रित खिचड़ी रूप ही था।

3 अप्रैल सन् 1868 को पं. शीतलाप्रसाद त्रिपाठी रचित 'जानकी मंगल' नाटक का अभिनय 'बनारस थियेटर' में आयोजित किया था। कहते हैं कि जिस लड़के को लक्ष्मण का अभिनय पार्ट करना था वह अचानक उस दिन बीमार पड़ गया। लक्ष्मण के अभिनय की समस्या उपस्थित हो गई और उस दिन युवक भारतेन्दु स्थिति को न सँभालते तो नाट्यायोजन स्थगित करना पड़ता। भारतेन्दु ने एक-डेढ़ घंटे में ही न केवल लक्ष्मण की अपनी भूमिका याद कर ली अपितु पूरे 'जानकी मंगल' नाटक को ही मस्तिष्क में जमा लिया। भारतेन्दु ने अपने अभिजात्य की परवाह नहीं की।

उन दिनों उच्च कुल के लोग अभिनय करना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं समझते थे। इस प्रकार इस नाटक से भारतेन्दु ने रंगमंच पर सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। इसी समय-उन्होंने नाट्य-सृजन भी आरम्भ किया।

भारतेन्दु ने सन् 1868 ई. से सन् 1885 ई. तक अपने स्वल्प और अत्यन्त व्यस्त जीवन से शेष 17 वर्षों में अनेक नाटकों का सृजन किया, अनेक नाटकों में स्वयं अभिनय किया, अनेक रंगशालाएँ निर्मित कराईं और हिन्दी रंगमंच के स्थापन का स्तुत्य प्रयास किया। यही नहीं, भारतेन्दु के अनेक लेखकों और रंगकर्मियों को नाट्य-सृजन और अभिनय के लिए प्रेरित किया। भारतेन्दु के सदुद्योग एवं प्रेरणा से काशी, प्रयाग, कानपुर आदि कई स्थानों पर हिन्दी का अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच स्थापित हुआ।

भारतेन्दु के ही जीवन काल में ये कुछ रंग-संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं–

1. काशी में भारतेन्दु के संरक्षण में नेशनल थियेटर की स्थापना हुई। भारतेन्दु अपना 'अंधेर नगरी' प्रहसन इसी थियेटर के लिए एक ही रात में लिखा था,
2. प्रयाग में 'आर्य नाट्यसभा' स्थापित हुई जिसमें लाला श्रीनिवासदास का 'रंगधीर प्रेममोहिनी' प्रथम बार अभिनीत हुआ था,
3. कानपुर में भारतेन्दु के सहयोगी पं. प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी रंगमंच का नेतृत्व किया और भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों का अभिनय कराया।

इनके अतिरिक्त बलिया, डुमराँव, लखनऊ आदि उत्तर प्रदेश के कई स्थानों और बिहार प्रदेश में भी हिन्दी रंगमंच और नाट्य-सृजन की दृढ़ परम्परा का निर्माण हुआ।

प्रेरणा-स्त्रोत

भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ-कहाँ से प्राप्त की, यह प्रश्न पर्याप्त महत्त्व का है। इस प्रश्न का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि हिन्दी में नाट्य-रचना का सूत्रपात भारतेन्दु की ही नव-प्रवर्तनकारी प्रतिभा से हुआ। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व नाट्य-शैली में कुछ सृजन-प्रयास हुए थे, पर नाटक के वास्तविक रूप का उद्‌भव सर्वप्रथम भारतेन्दु की ही लेखिनी से हुआ। अस्तु, जब हिन्दी में इस साहित्यिक विधा का अभाव था, तो भारतेन्दु ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ से ली ?

साहित्यिक प्रेरणा

साहित्यिक प्रेरणा की खोज की जाय तो कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने संस्कृत तथा प्राकृत की पूर्ववर्ती भारतीय नाट्य-परम्परा और बँगला की समसामयिक नाट्यधारा के साथ अंग्रेजी प्रभाव-धारा से प्रेरणा ली। यद्यपि हमारे यहाँ भास, कालीदास, भवभूति, शूद्रक आदि पूर्ववर्ती संस्कृत नाटककारों की समृद्ध नाट्य-परम्परा विद्यमान थी, पर यह खेद की बात है कि भारतेन्दु बाबू ने उस समृद्ध संस्कृत नाट्य-परम्परा को अपने सम्मुख रखा। प्राकृत-अपभ्रंश काल में अर्थात् ईसा की 9वीं-10 वीं शताब्दी के बाद संस्कृत नाटक ह्रासोन्मुख हो गया था। प्राकृत और अपभ्रंश में भी नाट्य-सृजन वैसा उत्कृष्ट नहीं हुआ जैसा पूर्ववर्ती संस्कृत-नाट्य-साहित्य था। अतः भारतेन्दु के सामने संस्कृत-प्राकृत की यह पूर्ववर्ती"ह्रासगामी परम्परा रही। संस्कृत के मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि की क्रमशः 'अनर्घराघव', 'बालरामायण', 'प्रसन्नराघव' आदि रचनाएँ ही भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लेखकों का आदर्श बनीं। इनमें न कथ्य- या विषय-वस्तु का वह गाम्भीर्य था, जो कालिदास आदि की अमर कृतियों में था, न उन जैसी शैली-शिल्प की श्रेष्ठता थी। यही कारण है कि भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटक सर्वथा निष्प्राण रहा और यद्यपि भारतेन्दु ने उसमें सामयिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक पैदा कर नवोन्मेष और किंचित् सप्राणता का प्रयास किया, पर उनके प्रयत्नों के बावजूद भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक कथ्य और शिल्प दोनों की ही दृष्टि से शैशव काल में ही पड़ा रहा, विशेष उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हुआ।

भारतेन्दु के पश्चात्

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सत्यप्रयत्नों से हिन्दी के साहित्यिक रंगकर्म और नाट्य-लेखन की दृढ़ परम्परा चली। पर सन् 1885 ई. में भारतेन्दु के निधन के पश्चात् वह उत्साह कुछ मन्द पड़ गया। 19 वीं शती के अन्तिम दशक में फिर कुछ छुटपुट प्रयास हुए। कई नाटक मंडलियों की स्थापना हुई, जैसे प्रयाग की 'श्रीरामलीला नाटक मंडली' तथा 'हिन्दी नाट्य समिति', भारतेन्दु जी के भतीजों- श्रीकृष्णचन्द्र और श्री ब्रजचन्द्र-द्वारा काशी में स्थापित 'श्री भारतेन्दु नाटक मंडली' तथा 'काशी नागरी नाटक मंडली।' इन नाटक मंडलियों के प्रयत्न से उस समय 'महाराणा प्रताप', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'महाभारत', 'सुभद्राहरण', 'भीष्मपितामह', 'बिल्व मंगल', 'संसार स्वप्न', 'कलियुग' आदि अनेक नाटकों का अभिनय हुआ।

पर ये प्रयास भी बहुत दिन नहीं चल सके। धनाभाव तथा सरकारी और गैर-सरकारी प्रोत्साहन के अभाव में साहित्यिक रंगमंच की स्थापना के प्रयत्न कालान्तर में सब सो गए। इन छुटपुट प्रयासों के अन्तर्गत तत्कालीन साहित्यिक नाटकों का अभिनय हुआ और हिन्दी में कुछ अच्छे रंगमंचानुकूल साहित्यिक नाटकों की रचना हुई। पारसी नाटक कंपनियों के दुष्प्रभाव का तो यह प्रयास अच्छा जवाब था, किन्तु यह प्रयास था बहुत ही स्वल्प। दूसरे, इस साहित्यिक रंगान्दोलन से भी हिन्दी का रंगमंच विशेष विकसित नहीं हुआ, क्योंकि यह रंगमंच पारसी रंगमंच से विशेष भिन्न और विकसित नहीं था- वही पर्दों की योजना, वैसा ही दृश्य-विधान और संगी आदि का प्रबंध रहता था। वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न घूमने वाले रंगमंच का विकास 19 वीं शती में नहीं हो सका था। ध्वनि-यन्त्र आदि की स्थापना के प्रयास भी हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे पाए। हाँ, इनका यही लाभ हुआ की पारसी नाटक कम्पनियों के भ्रष्ट प्रचार को कुछ धक्का लगा तथा कुछ रंगमंचीय हिन्दी नाटक प्रकाश में आए।

बीसवीं शताब्दी

20 वीं शताब्दी के तीसरे दशक में सिनेमा के आगमन ने पारसी रंगमंच को सर्वथा समाप्त कर दिया। पर अव्यावसायिक रंगमंच इधर-उधर नए रूपों में जीवित रहा। अब हिन्दी का रंगमंच केवल स्कूलों और कॉलेजों में ही है। यह रंगमंच बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकियों को अधिक अपनाकर चला। इसके दो

मुख्य कारण हैं- एक तो आज का दर्शक कम-से-कम समय में अपने मनोरंजन की पूर्ति करना चाहता है, दूसरे, आयोजकों के लिए भी बड़े नाटक का प्रदर्शन यहां बहुत कठिनाई उत्पन्न करता है वहाँ एकांकी का प्रदर्शन सरल है-रंगमंच, दृश्य-विधान आदि एकांकी में सरल होते हैं, पात्र भी बहुत कम रहते हैं। अतः सभी शिक्षालयों, सांस्कृतिक आयोजनों आदि में आजकल एकांकियों का ही प्रदर्शन होता है। डॉ. राम कुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्द दास, जगदीशचन्द्र माथुर आदि हमारे अनेक नाटककारों ने सुन्दर अभिनय-उपयोगी एकांकी नाटकों तथा दीर्घ नाटकों की रचना की है।

प्रसाद जी ने उच्चकोटि के साहित्यिक नाटक रच कर हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध किया था, पर अनेक नाटक रंगमंच पर कुछ कठिनाई उत्पन्न करते थे। फिर भी कुछ काट-छाँट के साथ प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटकों का अभिनय हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच पर हुआ। जार्ज बर्नार्ड शॉ, इब्सन आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से उपर्युक्त प्रसादोत्तर आधुनिक नाटककारों ने कुछ बहुत सुन्दर रंगमंचीय नाटकों की सृष्टि की। इन नाटककारों के अनेक पूरे नाटक भी रंगमंचों से प्रदर्शित हुए।

स्वतंत्रता के पश्चात

स्वतंत्रता के पाश्चात् हिन्दी रंगमंच के स्थायी निर्माण की दिशा में अनेक सरकारी-गैर-सरकारी प्रयत्न हुए हैं। सरकार की ओर से भी कई गैर-सरकारी संस्थाओं को रंगमंच की स्थापना के लिए आर्थिक सहायता मिली है। पुरुषों के साथ अब स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेने लगी हैं। स्कूलों-कॉलेजों में कुछ अच्छे नाटकों का अब अच्छा प्रदर्शन होने लगा है।

अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से संबद्ध कुछ अच्छे स्थायी रंगमंच बने हैं, जैसे थिएटर सेंटर के तत्त्वावधान में दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, इलाहाबाद, हैदराबाद, बंगलौर, शान्तिनिकेतन आदि स्थानों पर स्थायी रंगमंच स्थापित हैं। केन्द्रीय सरकार भी इस ओर पर्याप्त ध्यान दे रही है। पर इन सर्वभाषायी रंगमंचों पर हिन्दी भिखारिणी-सी ही प्रतीत होती है।

केन्द्रीय सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की स्थापना की है, जिसमें अच्छे नाटककारों और कलाकारों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

व्यावसायिक रंगमंच के निर्माण के भी पिछले दिनों कुछ प्रयत्न हुए हैं। प्रसिद्ध कलाकार स्वर्गीय पृथ्वीराज कपूर ने कुछ वर्ष हुए पृथ्वी थियेटर की

स्थापना की थी। उन्होंने कई नाटक प्रस्तुत किए हैं, जैसे 'दीवार', 'गद्दार', 'पठान', 'कलाकार', 'आहूति' आदि। धन की हानि उठाकर भी कुछ वर्ष इस कम्पनी ने उत्साहपूर्वक अच्छा कार्य किया। पर इतने प्रयास पर भी बंबई, दिल्ली या किसी जगह हिन्दी का स्थायी व्यावसायिक रंगमंच नहीं बन सका है। इस मार्ग में कठिनाइयाँ हैं।

प्रमुख हिन्दी नाटककार

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं। वे हिन्दी में आधुनिकता के पहले रचनाकार थे। इनका मूल नाम 'हरिश्चन्द्र' था, 'भारतेन्दु' उनकी उपाधि थी। उनका कार्यकाल युग की सन्धि पर खड़ा है। उन्होंने रीतिकाल की विकृत सामन्ती संस्कृति की पोषक वृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ परम्परा की भूमि अपनाई और नवीनता के बीज बोए। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेन्दु जी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण का चित्रण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हिंदी पत्रकारिता, नाटक और काव्य के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान रहा। हिंदी में नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुन्दर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किन्तु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका', 'कविवचनसुधा' और 'बाला बोधिनी' पत्रिकाओं का संपादन भी किया। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे। इसके अलावा वे लेखक, कवि, संपादक, निबंधकार, एवं कुशल वक्ता भी थे। भारतेन्दु जी ने मात्र चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही विशाल साहित्य की रचना की। उन्होंने मात्र और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा और इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथदर्शक बन गया।

जीवन परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 9 सितंबर, 1850 को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता गोपालचंद्र एक अच्छे कवि थे और 'गिरधरदास' उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। ये दिन उनकी आँख खुलने के थे। भारतेन्दु का कृतित्त्व साक्ष्य है कि उनकी आँखें एक बार खुलीं तो बन्द नहीं हुईं। उनके पूर्वज अंग्रेज भक्त थे, उनकी ही कृपा से धनवान हुये थे। हरिश्चंद्र पाँच वर्ष के थे तो माता की मृत्यु और दस वर्ष के थे तो पिता की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार बचपन में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो गये। विमाता ने खूब सताया। बचपन का सुख नहीं मिला। शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतन्त्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषय-वस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरण शक्ति तीव्र थी, ग्रहण क्षमता अद्‌भुत। इसलिए परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक - राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' थे, भारतेन्दु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अंग्रेजी सीखी। भारतेन्दु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं।

उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पांच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान।

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदु जी ऋणी बन गए और दुश्चिंताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणामस्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

साहित्यिक परिचय

भारतेन्दु के वृहत साहित्यिक योगदान के कारण ही 1857 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार,

भारतेन्दु अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्माकर, द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, तो दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। प्राचीन और नवीन का सुंदर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।

पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही भारतेंदु ने साहित्य सेवा प्रारंभ कर दी थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसमें उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों की रचनाएं छपती थीं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 1868 में 'कविवचनसुधा', 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्री शिक्षा के लिए 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिकाएँ निकालीं। साथ ही उनके समांतर साहित्यिक संस्थाएँ भी खड़ी कीं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। राजभक्ति प्रकट करते हुए भी, अपनी देशभक्ति की भावना के कारण उन्हें अंग्रेजी हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर काशी के विद्वानों ने 1880 में उन्हें 'भारतेंदु'(भारत का चंद्रमा) की उपाधि प्रदान की। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में है। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली के उस रूप को प्रतिष्ठित किया जो उर्दू से भिन्न है और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का रस लेकर संवर्धित हुआ है। इसी भाषा में उन्होंने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य की रचना की। साहित्य सेवा के साथ-साथ भारतेंदु जी की समाज-सेवा भी चलती रही। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना में अपना योग दिया। दीन-दुखियों, साहित्यिकों तथा मित्रों की सहायता करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे।

प्रमुख कृतियाँ

मौलिक नाटक

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873ई., प्रहसन)
सत्य हरिश्चन्द्र (1875, नाटक)
श्री चंद्रावली (1876, नाटिका)
विषस्य विषमौषधम् (1876, भाण)
भारत दुर्दशा (1880, ब्रजरत्नदास के अनुसार 1876, नाट्य रासक),

नीलदेवी (1881, ऐतिहासिक गीति रूपक)।

अंधेर नगरी (1881, प्रहसन)

प्रेमजोगिनी (1875, प्रथम अंक में चार गर्भांक, नाटिका)

सती प्रताप (1883, अपूर्ण, केवल चार दृश्य, गीतिरूपक, बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया)

अनूदित नाट्य रचनाएँ

विद्यासुन्दर (1868, नाटक, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत बँगला संस्करण का हिंदी अनुवाद)

पाखण्ड विडम्बन (कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद)

धनंजय विजय (1873, व्यायोग, कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद)

कर्पूर मंजरी (1875, सट्टक, राजशेखर कवि कृत प्राकृत नाटक का अनुवाद)

भारत जननी (1877, नाट्यगीत, बंगला की 'भारतमाता' के हिंदी अनुवाद पर आधारित)

मुद्राराक्षस (1878, विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद)

दुर्लभ बंधु (1880, शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद)

निबंध संग्रह

भारतेन्दु ग्रन्थावली (तृतीय खंड) में संकलित।

'नाटक' शीर्षक प्रसिद्ध निबंध(1883)।

प्रमुख निबंध

नाटक

कालचक्र (जर्नल)

लेवी प्राण लेवी

भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?

कश्मीर कुसुम

जातीय संगीत
संगीत सार
हिंदी भाषा
स्वर्ग में विचार सभा

काव्यकृतियां

भक्तसर्वस्व (1870)
प्रेममालिका (1871),
प्रेम माधुरी (1875),
प्रेम-तरंग (1877),
उत्तरार्ध भक्तमाल (1876-77),
प्रेम-प्रलाप (1877),
होली (1879),
मधु मुकुल (1881),
राग-संग्रह (1880),
वर्षा-विनोद (1880),
विनय प्रेम पचासा (1881),
फूलों का गुच्छा- खड़ीबोली काव्य (1882)
प्रेम फुलवारी (1883)
कृष्णचरित्र (1883)
दानलीला
तन्मय लीला
नये जमाने की मुकरी
सुमनांजलि
बन्दर सभा (हास्य व्यंग)
बकरी विलाप (हास्य व्यंग)

कहानी

अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न
यात्रा वृत्तान्त
सरयूपार की यात्रा
लखनऊ

आत्मकथा

एक कहानी- कुछ आपबीती, कुछ जगबीती

उपन्यास

पूर्णप्रकाश
चन्द्रप्रभा
वर्ण्य विषय

भारतेंदु जी की यह विशेषता रही कि जहां उन्होंने ईश्वर भक्ति आदि प्राचीन विषयों पर कविता लिखी वहां उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम आदि नवीन विषयों को भी अपनाया। भारतेंदु की रचनाओं में अंग्रेजी शासन का विरोध, स्वतंत्रता के लिए उद्दाम आकांक्षा और जातीय भावबोध की झलक मिलती है। सामन्ती जकड़न में फंसे समाज में आधुनिक चेतना के प्रसार के लिए लोगों को संगठित करने का प्रयास करना उस जमाने में एक नई ही बात थी। उनके साहित्य और नवीन विचारों ने उस समय के तमाम साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को झकझोरा और उनके इर्द-गिर्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत लेखकों का एक ऐसा समूह बन गया जिसे भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना जाता है।

विषय के अनुसार उनकी कविता श्रृंगार-प्रधान, भक्ति-प्रधान, सामाजिक समस्या प्रधान तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान है।

श्रृंगार रस प्रधान भारतेंदु जी ने श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। वियोगावस्था का एक चित्र देखिए-

देख्यो एक बारहूं न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहें तही पछतायगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरसे तिहारे हाय,
देखि लीजो आंखें ये खुली ही रह जायगी।

भक्ति प्रधान भारतेंदु जी कृष्ण के भक्त थे और पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। उनको कविता में सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। वे कामना करते हैं

बोल्यों करै नूपुर स्त्रीननि के निकट सदा
पद तल मांहि मन मेरी बिहरयौ करै।
बाज्यौ करै बंसी धुनि पूरि रोम-रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनही हास्यौ करै।

सामाजिक समस्या प्रधान भारतेंदु जी ने अपने काव्य में अनेक सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किए। महाजनों और रिश्वत लेने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा–

चूरन अमले जो सब खाते,
दूनी रिश्वत तुरत पचाते।
चूरन सभी महाजन खाते,
जिससे जमा हजम कर जाते।

राष्ट्र–प्रेम प्रधान भारतेंदु जी के काव्य में राष्ट्र–प्रेम भी भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राचीन गौरव की झांकी वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं –

भारत के भुज बल जग रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय कंपिथ संसारा।

प्राकृतिक चित्रण प्रकृति चित्रण में भारतेंदु जी को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे मानव–प्रकृति के शिल्पी थे, बाह्य प्रकृति में उनका मर्मपूर्ण रूपेण नहीं रम पाया। अत: उनके अधिकांश प्रकृति चित्रण में मानव हृदय को आकर्षित करने की शक्ति का अभाव है। चंद्रावली नाटिका के यमुना–वर्णन में अवश्य सजीवता है तथा उसकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं नवीनता लिए हुए हैं–

कै पिय पद उपमान जान यह निज उर धारत,
कै मुख कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांई,
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आई।

प्रकृति वर्णन का यह उदहारण देखिये, जिसमे युमना की शोभा कितनी दर्शनीय है–

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहूँ सुहाये।।

भाषा

भारतेन्दु के समय में राजकाज और संभ्रांत वर्ग की भाषा फारसी थी। वहीं, अंग्रेजी का वर्चस्व भी बढ़ता जा रहा था। साहित्य में ब्रजभाषा का बोलबाला था।

फारसी के प्रभाव वाली उर्दू भी चलन में आ गई थी। ऐसे समय में भारतेन्दु ने लोकभाषाओं और फारसी से मुक्त उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का विकास किया। आज जो हिंदी हम लिखते-बोलते हैं, वह भारतेंदु की ही देन है। यही कारण है कि उन्हें आधुनिक हिंदी का जनक माना जाता है। केवल भाषा ही नहीं, साहित्य में उन्होंने नवीन आधुनिक चेतना का समावेश किया और साहित्य को 'जन' से जोड़ा।

भारतेन्दु की रचनाधर्मिता में दोहरापन दिखता है। कविता जहां वे ब्रज भाषा में लिखते रहे, वहीं उन्होंने बाकी विधाओं में सफल हाथ खड़ी बोली में आजमाया। सही मायने में कहें तो भारतेंदु आधुनिक खड़ी बोली गद्य के उन्नायक हैं।

भारतेन्दु जी के काव्य की भाषा प्रधानत: ब्रज भाषा है। उन्होंने ब्रज भाषा के अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर उसके परिकृष्ट रूप को अपनाया। उनकी भाषा में जहां-तहां उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी जाते हैं।

उनके गद्य की भाषा सरल और व्यावहारिक है। मुहावरों का प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है।

शैली

भारतेंदु जी के काव्य में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं -

1. रीति कालीन रसपूर्ण अलंकार शैली - शृंगारिक कविताओं में,
2. भावात्मक शैली - भक्ति के पदों में,
3. व्यंग्यात्मक शैली - समाज-सुधार की रचनाओं में,
4. उद्‌बोधन शैली - देश-प्रेम की कविताओं में।

रस

भारतेंदु जी ने लगभग सभी रसों में कविता की है। शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है। शृंगार के दोनों पक्षों का भारतेंदु जी ने सुंदर वर्णन किया है। उनके काव्य में हास्य रस की भी उत्कृष्ट योजना मिलती है।

छन्द

भारतेंदु जी ने अपने समय में प्रचलित प्राय: सभी छंदों को अपनाया है। उन्होंने केवल हिंदी के ही नहीं उर्दू, संस्कृत, बंगला भाषा के छंदों को भी स्थान

दिया है। उनके काव्य में संस्कृत के वसंत तिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, शालिनी आदि हिंदी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियाँ, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि, बंगला के पयार तथा उर्दू के रेखता, गजल छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतेंदु जी कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चौती आदि लोक छंदों को भी व्यवहार में लाए हैं।

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भारतेंदु जी के काव्य में सहज रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह अलंकारों के प्रति भारतेंदु जी की अधिक रुचि है। शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है। निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकार की योजना स्पष्ट दिखाई देती है–

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए।।

महत्वपूर्ण कार्यत्व

नवीन साहित्यिक चेतना और स्वभाषा प्रेम का सूत्रपात

आधुनिक हिंदी साहित्य में भारतेंदु जी का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। भारतेंदु बहूमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अपूर्व है। भारतेंदु जी हिंदी में नव जागरण का संदेश लेकर अवतरित हुए। उन्होंने हिंदी के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया। भाव, भाषा और शैली में नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करके उन्हें आधुनिक काल के अनुरूप बनाया। आधुनिक हिंदी के वे जन्मदाता माने जाते हैं। हिंदी के नाटकों का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ।

भारतेंदु जी अपने समय के साहित्यिक नेता थे। उनसे कितने ही प्रतिभाशाली लेखकों को जन्म मिला। मातृ–भाषा की सेवा में उन्होंने अपना जीवन ही नहीं संपूर्ण धन भी अर्पित कर दिया। हिंदी भाषा की उन्नति उनका मूलमंत्र था –

निज भाषा उन्नति लहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल।।
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहू, भाषा माहि प्रचार।।

1882 में शिक्षा आयोग (हन्टर कमीशन) के समक्ष अपनी गवाही में हिन्दी को न्यायालयों की भाषा बनाने की महत्ता पर उन्होंने कहा–

यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाए, तो सम्मन पढ़वाने के लिए दो–चार आने कौन देगा, और साधारण–सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया–आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वालों को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारंट बता दें। सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही (भारत) ऐसा देश है जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में, तथा एक हिंदी में, लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जाएगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है। जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं उनमें हिंदी का प्रयोग होने से रैयत और जमींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब–किताब हिंदी में रखते हैं। स्त्रियाँ हिंदी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के कागजात हिंदी में लिखे जाते हैं और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिंदी में शिक्षा देते हैं।

इसी सन्दर्भ में 1868 ई में 'उर्दू का स्यापा' नाम से उन्होंने एक व्यंग्य कविता लिखी–

है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय।
बल्ला बिल्ला हाय हाय। रोये पीटें हाय हाय।
टाँग घसीटैं हाय हाय। सब छिन सोचौं हाय हाय।
डाढ़ी नोचौं हाय हाय। दुनिया उल्टी हाय हाय।
रोजी बिल्टी हाय हाय। सब मुखतारी हाय हाय।
किसने मारी हाय हाय। खबर नवीसी हाय हाय।
दाँत पीसी हाय हाय। एडिटर पोसी हाय हाय।
बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय।
चरब–जुबानी हाय हाय। शोख बयानि हाय हाय।
फिर नहीं आनी हाय हाय।

अपनी इन्हीं कार्यों के कारण भारतेन्दु हिन्दी साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गए और उनका युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिश्चंद्र चंद्रिका, कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र मैग्जीन, स्त्री बाला बोधिनी जैसे

प्रकाशन उनके विचारशील और प्रगतिशील सम्पादकीय दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास

भारतेन्दु का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होने हिन्दी साहित्य को, और उसके साथ समाज को साम्राज्य-विरोधी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दी। 1870 में जब कविवचनसुधा में उन्होने लॉर्ड मेयो को लक्ष्य करके 'लेवी प्राण लेवी' नामक लेख लिखा तब से हिन्दी साहित्य में एक नयी साम्राज्य-विरोधी चेतना का प्रसार आरम्भ हुआ। 6 जुलाई 1874 को कविवचनसुधा में लिखा कि जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वतन्त्र हुआ उसी प्रकार भारत भी स्वतन्त्रता लाभ कर सकता है। उन्होने तदीय समाज की स्थापना की जिसके सदस्य स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा करते थे। भारतेन्दु ने विलायती कपड़ों के बहिष्कार की अपील करते हुए स्वदेशी का जो प्रतिज्ञा पत्र 23 मार्च, 1874 के 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित किया, वह समूचे हिंदी समाज का प्रतिज्ञा पत्र बन गया। उसमें भारतेंदु ने कहा था,

हमलोग सर्वांतर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे, हिंदुस्तान का ही बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्राय: सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय के बाद में अवश्य उद्योग करेंगे।

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ही साहित्य में जन भावनाओं और आकांक्षाओं को स्वर दिया था। पहली बार साहित्य में 'जन' का समावेश भारतेन्दु ने ही किया। उनके पहले काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का ही बोलबाला था। साहित्य पतनशील सामन्ती संस्कृति का पोषक बन गया था, पर भारतेन्दु ने साहित्य को जनता की गरीबी, पराधीनता, विदेशी शासकों के अमानवीय शोषण के चित्रण और उसके विरोध का माध्यम बना दिया। अपने नाटकों, कवित्त,

मुकरियों और प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी राज पर कटाक्ष और प्रहार किए, जिसके चलते उन्हें अंग्रेजों का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

भारतेंदु अंग्रेजों के शोषण तंत्र को भली-भांति समझते थे। अपनी पत्रिका कविवचनसुधा में उन्होंने लिखा था–

"जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिंदुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।"

यही नहीं, 20वीं सदी की शुरुआत में दादाभाई नौरोजी ने धन के अपवहन यानी ड्रेन ऑफ वेल्थ के जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था, भारतेन्दु ने बहुत पहले ही शोषण के इस रूप को समझ लिया था। उन्होंने लिखा था–

अंगरेजी राज सुखसाज सजे अति भारी, पर सब धन विदेश चलि जात ये ख्वारी।

अंग्रेज भारत का धन अपने यहां लेकर चले जाते हैं और यही देश की जनता की गरीबी और कष्टों का मूल कारण है, इस सच्चाई को भारतेंदु ने समझ लिया था। कविवचनसुधा में उन्होंने जनता का आह्वान किया था–

"भाइयो! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे वह उपाय करो।"

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं। इसलिए उन्होने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होने लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आह्वान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से भारतेंदु का यह उद्बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थानबिंदु है। भाषण का एक छोटा सा अंश देखिए-

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंगरेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंगरेज फरासीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायेगा फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।"

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है। देखिए, किस तरह भारत की चिंता इस निबन्ध में भारतेंदु व्यक्त करते हैं,

"बहुत लोग यह कहैंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करैं? तुम्हारा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटों को साफ किया।"

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई॥

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णतः खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अँग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया–

"सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वालों को जो द्रव्य व्यय किया है, उसका ब्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा,

"यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।"

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद, हिन्दी कवि, नाटककार, उपन्यासकार तथा निबन्धकार थे। वे हिन्दी के छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। उन्होंने हिन्दी काव्य में एक तरह से छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में न केवल कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई, बल्कि जीवन के सूक्ष्म एवं व्यापक आयामों के चित्रण की शक्ति भी संचित हुई और कामायनी तक पहुँचकर वह काव्य प्रेरक शक्तिकाव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित हो गया। बाद के प्रगतिशील एवं नई कविता दोनों धाराओं के प्रमुख आलोचकों ने उसकी इस शक्तिमत्ता को स्वीकृति दी। इसका एक अतिरिक्त प्रभाव यह भी हुआ कि खड़ीबोली हिन्दी काव्य की निर्विवाद सिद्ध भाषा बन गयी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके कृतित्त्व का गौरव अक्षुण्ण है। वे एक युगप्रवर्तक लेखक थे जिन्होंने एक ही साथ कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में हिंदी को गौरवान्वित होने योग्य कृतियाँ दीं। कवि के रूप में वे निराला, पन्त, महादेवी के साथ छायावाद के प्रमुख स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं, नाटक लेखन में भारतेन्दु के बाद वे एक अलग धारा बहाने वाले युगप्रवर्तक नाटककार रहे जिनके नाटक आज भी पाठक न केवल चाव से पढ़ते हैं, बल्कि उनकी अर्थगर्भिता तथा रंगमंचीय प्रासंगिकता भी दिनानुदिन बढ़ती ही गयी है। इस दृष्टि से उनकी महत्ता पहचानने एवं स्थापित करने में वीरेन्द्र

नारायण, शांता गाँधी, सत्येन्द्र तनेजा एवं अब कई दृष्टियों से सबसे बढ़कर महेश आनन्द का प्रशंसनीय ऐतिहासिक योगदान रहा है। इसके अलावा कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी उन्होंने कई यादगार कृतियाँ दीं। विविध रचनाओं के माध्यम से मानवीय करुणा और भारतीय मनीषा के अनेकानेक गौरवपूर्ण पक्षों का उद्घाटन। 48 वर्षो के छोटे से जीवन में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास और आलोचनात्मक निबंध आदि विभिन्न विधाओं में रचनाएँ की।

जीवन परिचय

प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल 10, संवत् 1946 वि. (तदनुसार 30जनवरी 1889ई. दिन-गुरुवार) को काशी के सरायगोवर्धन में हुआ। इनके पितामह बाबू शिवरतन साहू दान देने में प्रसिद्ध थे और इनके पिता बाबू देवीप्रसाद जी कलाकारों का आदर करने के लिये विख्यात थे। इनका काशी में बड़ा सम्मान था और काशी की जनता काशीनरेश के बाद 'हर हर महादेव' से बाबू देवीप्रसाद का ही स्वागत करती थी। किशोरावस्था के पूर्व ही माता और बड़े भाई का देहावसान हो जाने के कारण 17 वर्ष की उम्र में ही प्रसाद जी पर आपदाओं का पहाड़ ही टूट पड़ा। कच्ची गृहस्थी, घर में सहारे के रूप में केवल विधवा भाभी, कुटुबिंयों, परिवार से संबद्ध अन्य लोगों का संपत्ति हड़पने का षड्यंत्र, इन सबका सामना उन्होंने धीरता और गंभीरता के साथ किया। प्रसाद जी की प्रारंभिक शिक्षा काशी में क्वींस कालेज में हुई, किंतु बाद में घर पर इनकी शिक्षा का व्यापक प्रबंध किया गया, जहाँ संस्कृत, हिंदी, उर्दू, तथा फारसी का अध्ययन इन्होंने किया। दीनबंधु ब्रह्मचारी जैसे विद्वान् इनके संस्कृत के अध्यापक थे। इनके गुरुओं में 'रसमय सिद्ध' की भी चर्चा की जाती है।

घर के वातावरण के कारण साहित्य और कला के प्रति उनमें प्रारंभ से ही रुचि थी और कहा जाता है कि नौ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'कलाधर' के नाम से ब्रजभाषा में एक सवैया लिखकर 'रसमय सिद्ध' को दिखाया था। उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण तथा साहित्य शास्त्र का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया था। वे बाग-बगीचे तथा भोजन बनाने के शौकीन थे और शतरंज के खिलाड़ी भी थे। वे नियमित व्यायाम करने वाले, सात्विक खान-पान एवं गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे। वे नागरीप्रचारिणी सभा के उपाध्यक्ष भी थे। क्षय रोग से नवम्बर 15, 1937 (दिन-सोमवार) को प्रात:काल (उम्र 47) उनका देहांत काशी में हुआ।

कृतियाँ

काव्य

प्रसाद की काव्य रचनाएँ दो वर्गो में विभक्त है–काव्यपथ अनुसंधान की रचनाएँ और रससिद्ध रचनाएँ। आँसू, लहर तथा कामायनी दूसरे वर्ग की रचनाएँ हैं। उन्होंने काव्यरचना ब्रजभाषा में आरम्भ की और धीर-धीरे खड़ी बोली को अपनाते हुए इस भाँति अग्रसर हुए कि खड़ी बोली के मूर्धन्य कवियों में उनकी गणना की जाने लगी और वे युगप्रवर्तक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

काव्य कृतियां

1. कानन कुसुम
2. महाराणा का महत्व
3. झरना(1918)
4. आंसू
5. लहर
6. कामायनी 1935
7. प्रेम पथिक

उन्होंने हिंदी काव्य में छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई। उनकी सर्वप्रथम छायावादी रचना 'खोलो द्वार' 1914 ई. में इंदु में प्रकाशित हुई। वे छायावाद के प्रतिष्ठापक ही नहीं अपितु छायावादी पद्धति पर सरस संगीतमय गीतों के लिखने वाले श्रेष्ठ कवि भी हैं। उन्होंने हिंदी में 'करुणालय' द्वारा गीत नाट्य का भी आरंभ किया। उन्होंने भिन्न तुकांत काव्य लिखने के लिये मौलिक छंदचयन किया और अनेक छंद का संभवतः उन्होंने सबसे पहले प्रयोग किया। उन्होंने नाटकीय ढंग पर काव्य-कथा-शैली का मनोवैज्ञानिक पथ पर विकास किया। साथ ही कहानी कला की नई टेकनीक का संयोग काव्यकथा से कराया। प्रगीतों की ओर विशेष रूप से उन्होंने गद्य साहित्य को संपुष्ट किया और नीरस इतिवृत्तात्मक काव्यपद्धति को भावपद्धति के सिंहासन पर स्थापित किया।

काव्यक्षेत्र में प्रसाद की कीर्ति का मूलाधार 'कामायनी' है। खड़ी बोली का यह अद्वितीय महाकव्य मनु और श्रद्धा को आधार बनाकर रचित मानवता को

विजयिनी बनाने का संदेश देता है। यह रूपक कथाकाव्य भी है जिसमें मन, श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) के योग से अखंड आनंद की उपलब्धि का रूपक प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर संयोजित किया गया है। उनकी यह कृति छायावाद ओर खड़ी बोली की काव्यगरिमा का ज्वलंत उदाहरण है। सुमित्रानंदन पंत इसे 'हिंदी में ताजमहल के समान' मानते हैं। शिल्पविधि, भाषासौष्ठव एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसकी तुलना खड़ी बोली के किसी भी काव्य से नहीं की जा सकती है।

कहानी

कथा के क्षेत्र में प्रसाद जी आधुनिक ढंग की कहानियों के आरंभयिता माने जाते हैं। सन् 1912 ई. में 'इंदु' में उनकी पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई। उन्होंने कुल 72 कहानियाँ लिखी हैं।

कहानी संग्रह

1. छाया
2. प्रतिध्वनि
3. आकाशदीप
4. आंधी
5. इन्द्रजाल

उनकी अधिकतर कहानियों में भावना की प्रधानता है किंतु उन्होंने यथार्थ की दृष्टि से भी कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी वातावरणप्रधान कहानियाँ अत्यंत सफल हुई हैं। उन्होंने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों पर मौलिक एवं कलात्मक कहानियाँ लिखी हैं। भावना-प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ लिखी हैं। भावना प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ, रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उत्तम कहानियाँ, भी उन्होंने लिखी हैं। ये कहानियाँ भावनाओं की मिठास तथा कवित्व से पूर्ण हैं।

प्रसाद जी भारत के उन्नत अतीत का जीवित वातावरण प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त थे। उनकी कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें आदि से अंत तक भारतीय संस्कृति एवं आदर्शो की रक्षा का सफल प्रयास किया गया है। उनकी कुछ श्रेष्ठ कहानियों के नाम हैं—आकाशदीप, गुंडा, पुरस्कार, सालवती, स्वर्ग के

खंडहर में आँधी, इंद्रजाल, छोटा जादूगर, बिसाती, मधुआ, विरामचिह्न, समुद्रसंतरणय अपनी कहानियों में जिन अमर चरित्रों की उन्होंने सृष्टि की है, उनमें से कुछ हैं चंपा, मधुलिका, लैला, इरावती, सालवती और मधुआ का शराबी, गुंडा का नन्हकूसिंह और घीसू जो अपने अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

उपन्यास

प्रसाद ने तीन उपन्यास लिखे हैं। 'कंकाल', में नागरिक सभ्यता का अंतर यथार्थ उद्घाटित किया गया है। 'तितली' में ग्रामीण जीवन के सुधार के संकेत हैं। प्रथम यथार्थवादी उपन्यास हैं और दूसरे में आदर्शोन्मुख यथार्थ है। इन उपन्यासों के द्वारा प्रसाद जी हिंदी में यथार्थवादी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अपनी गरिमा स्थापित करते हैं। 'इरावती' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया इनका अधूरा उपन्यास है, जो रोमांस के कारण ऐतिहासिक रोमांस के उपन्यासों में विशेष आदर का पात्र है। इन्होंने अपने उपन्यासों में ग्राम, नगर, प्रकृति और जीवन का मार्मिक चित्रण किया है, जो भावुकता और कवित्व से पूर्ण होते हुए भी प्रौढ़ लोगों की शैल्पिक जिज्ञासा का समाधान करता है।

नाटक

प्रसाद ने आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक, कुल 13 नाटकों की सर्जना की। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर ये नाटक मूलतः इतिहास पर आधृत हैं। इनमें महाभारत से लेकर हर्ष के समय तक के इतिहास से सामग्री ली गई है। वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उनके नाटकों में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इतिहास की भित्ति पर संस्थित है।

1. स्कंदगुप्त
2. चंद्रगुप्त
3. ध्रुवस्वामिनी
4. जन्मेजय का नाग यज्ञ
5. राज्यश्री
6. कामना
7. एक घूंट

जयशंकर प्रसाद ने अपने दौर के पारसी रंगमंच की परंपरा को अस्वीकारते हुए भारत के गौरवमय अतीत के अनमोल चरित्रों को सामने

लाते हुए अविस्मरणीय नाटकों की रचना की। उनके नाटक स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि में स्वर्णिम अतीत को सामने रखकर मानों एक सोये हुए देश को जागने की प्रेरणा दी जा रही थी। उनके नाटकों में देशप्रेम का स्वर अत्यंत दर्शनीय है और इन नाटकों में कई अत्यंत सुंदर और प्रसिद्ध गीत मिलते हैं। 'हिमाद्रि तुंग शृंग से', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे उनके नाटकों के गीत सुप्रसिद्ध रहे हैं।

इनके नाटकों पर अभिनेय न होने का आरोप है। आक्षेप लगता रहा है कि वे रंगमंच के हिसाब से नहीं लिखे गए है जिसका कारण यह बताया जाता है कि इनमें काव्यतत्त्व की प्रधानता, स्वगत कथनों का विस्तार, गायन का बीच बीच में प्रयोग तथा दृश्यों का त्रुटिपूर्ण संयोजन है। किंतु उनके अनेक नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। उनके नाटकों में प्राचीन वस्तुविन्यास और रसवादी भारतीय परंपरा तो है ही, साथ ही पारसी नाटक कंपनियों, बँगला तथा भारतेंदुयुगीन नाटकों एवं शेक्सपियर की नाटकीय शिल्पविधि के योग से उन्होंने नवीन मार्ग ग्रहण किया है। उनके नाटकों के आरंभ और अंत में उनका अपना मौलिक शिल्प है, जो अत्यंत कलात्मक है। उनके नायक और प्रतिनायक दोनों चारित्रिक दृष्टि के गठन से अपनी विशेषता से मंडित हैं। इनकी नायिकाएँ भी नारीसुलभ गुणों से, प्रेम, त्याग, उत्सर्ग, भावुक उदारता से पूर्ण हैं। उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ राजा, आचार्य, सैनिक, वीर और कूटनीतिज्ञ का चित्रण किया है वहीं ओजस्वी, महिमाशाली स्त्रियों और विलासिनी, वासनामयी तथा उग्र नायिकाओं का भी चित्रण किया है। चरित्रचित्रण उनके अत्यंत सफल हैं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से उन्होंने नाटकों में राजश्री एवं चाणक्य को अमर कर दिया है। नाटकों में इतिहास के आधार पर वर्तमान समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रस्तुत करते हुए वे मिलते हैं। किंतु गंभीर चिंतन के साथ स्वच्छंद काव्यात्मक दृष्टि उनके समाधान के मूल में है। कथोपकथन स्वाभाविक है किंतु उनकी भाषा संस्कृतगर्भित है। नाटकों में दार्शनिक गंभीतरता का बाहुल्य है पर वह गद्यात्मक न होकर सरस है। उन्होंने कुछ नाटकों में स्वगत का भी प्रयोग किया है किंतु ऐसे नाटक केवल चार हैं। भारतीय नाट्य परंपरा में विश्वास करने के कारण उन्होंने नाट्यरूपक 'कामना' के रूप में प्रस्तुत किया। ये नाटक प्रभाव की एकता लाने में पूर्ण सफल हैं। अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद प्रसाद जी नाटककार के रूप में हिंदी में अप्रतिम हैं।

निबंध

प्रसाद ने प्रारंभ में समय समय पर 'इंदु' में विविध विषयों पर सामान्य निबंध लिखे। बाद में उन्होंने शोधपरक ऐतिहासिक निबंध, यथा: सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य, प्राचीन आर्यवर्त और उसका प्रथम सम्राट् आदि, भी लिखे हैं। ये उनकी साहित्यिक मान्यताओं की विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक भूमिका प्रस्तुत करते हैं। विचारों की गहराई, भावों की प्रबलता तथा चिंतन और मनन की गंभीरता के ये जाज्वल्य प्रमाण हैं।

पुरस्कार

जयशंकर प्रसाद को 'कामायनी' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

कमलेश्वर हिन्दी लेखक कमलेश्वर बीसवीं शती के सबसे सशक्त लेखकों में से एक समझे जाते हैं। कहानी, उपन्यास, पत्रकारिता, स्तंभ लेखन, फिल्म पटकथा जैसी अनेक विधाओं में उन्होंने अपनी लेखन प्रतिभा का परिचय दिया। कमलेश्वर का लेखन केवल गंभीर साहित्य से ही जुड़ा नहीं रहा बल्कि उनके लेखन के कई तरह के रंग देखने को मिलते हैं। उनका उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' हो या फिर भारतीय राजनीति का एक चेहरा दिखाती फिल्म 'आंधी' हो, कमलेश्वर का काम एक मानक के तौर पर देखा जाता रहा है। उन्होंने मुंबई में जो टीवी पत्रकारिता की, वो बेहद मायने रखती है। 'कामगार विश्व' नाम के कार्यक्रम में उन्होंने गरीबों, मजदूरों की पीड़ा-उनकी दुनिया को अपनी आवाज दी। कमलेश्वर की अनेक कहानियों का उर्दू में भी अनुवाद हुआ है।

कमलेश्वर का जन्म 6 जनवरी 1932 को उत्तरप्रदेश के मैनपुरी जिले में हुआ। उन्होंने 1954 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम.ए. किया। उन्होंने फिल्मों के लिए पटकथाएँ तो लिखी ही, उनके उपन्यासों पर फिल्में भी बनी। आंधी', 'मौसम (फिल्म)', 'सारा आकाश', 'रजनीगंधा', , 'मिस्टर नटवरलाल', 'सौतन', 'लैला', 'रामबलराम' की पटकथाएँ उनकी कलम से ही लिखी गई थीं। लोकप्रिय टीवी सीरियल 'चन्द्रकांता' के अलावा 'दर्पण' और 'एक कहानी' जैसे धारावाहिकों की पटकथा लिखने वाले भी कमलेश्वर ही थे। उन्होंने कई वृत्तचित्रों और कार्यक्रमों का निर्देशन भी किया।

1995 में कमलेश्वर को 'पद्मभूषण' से नवाजा गया और 2003 में उन्हें 'कितने पाकिस्तान'(उपन्यास) के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित

किया गया। वे 'सारिका' 'धर्मयुग', 'जागरण' और 'दैनिक भास्कर' जैसे प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं के संपादक भी रहे। उन्होंने दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक जैसा महत्वपूर्ण दायित्व भी निभाया। कमलेश्वर ने अपने 75 साल के जीवन में 12 उपन्यास, 17 कहानी संग्रह और करीब 100 फिल्मों की पटकथाएँ लिखीं।

कमलेश्वर की अंतिम अधूरी रचना अंतिम सफर उपन्यास है, जिसे कमलेश्वर की पत्नी गायत्री कमलेश्वर के अनुरोध पर तेजपाल सिंह धामा ने पूरा किया और हिन्द पाकेट बुक्स ने उसे प्रकाशित किया और बेस्ट सेलर रहा। 27 जनवरी 2007 को उनका निधन हो गया।

कृतियाँ

उपन्यास

1. एक सड़क सत्तावन गलियाँ
2. तीसरा आदमी
3. डाक बंगला
4. समुद्र में खोया हुआ आदमी
5. काली आँधी
6. आगामी अतीत
7. सुबह...दोपहर...शाम
8. रेगिस्तान
9. लौटे हुए मुसाफिर
10. वही बात
11. एक और चंद्रकांता
12. कितने पाकिस्तान
13. अंतिम सफर

पटकथा एवं संवाद

कमलेश्वर ने 99 फिल्मों के संवाद, कहानी या पटकथा लेखन का काम किया। कुछ प्रसिद्ध फिल्मों के नाम हैं-

1. सौतन की बेटी(1989)-संवाद
2. लैला(1984)- संवाद, पटकथा

3. यह देश (1984) –संवाद
4. रंग बिरंगी(1983) –कहानी
5. सौतन(1983)– संवाद
6. साजन की सहेली(1981)– संवाद, पटकथा
7. राम बलराम (1980)– संवाद, पटकथा
8. मौसम(1975)– कहानी
9. आंधी (1975)– उपन्यास

संपादन

अपने जीवनकाल में अलग–अलग समय पर उन्होंने सात पत्रिकाओं का संपादन किया –

1. विहान–पत्रिका (1954)
2. नई कहानियाँ–पत्रिका (1958–66)
3. सारिका–पत्रिका (1967–78)
4. कथायात्रा–पत्रिका (1978–79)
5. गंगा–पत्रिका(1984–88)
6. इंगित–पत्रिका (1961–68)
7. श्रीवर्षा–पत्रिका (1979–80)

अखबारों में भूमिका

वे हिन्दी दैनिक दैनिक जागरण' में 1990 से 1992 तक तथा 'दैनिक भास्कर' में 1997 से लगातार स्तंभलेखन का काम करते रहे।

कहानियाँ

कमलेश्वर ने तीन सौ से अधिक कहानियाँ लिखीं। उनकी कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ हैं –

1. राजा निरबंसिया
2. मांस का दरिया
3. नीली झील
4. तलाश
5. बयान

6. नागमणि
7. अपना एकांत
8. आसक्ति
9. जिंदा मुर्दे
10. जॉर्ज पंचम की नाक
11. मुर्दों की दुनिया
12. कस्बे का आदमी
13. स्मारक

नाटक

उन्होंने तीन नाटक लिखे –
अधूरी आवाज
रेत पर लिखे नाम
हिंदोस्ता हमारा

जगदीशचंद्र माथुर

जगदीशचंद्र माथुर हिंदी के लेखक एवं नाटककार थे। वे उन साहित्यकारों में से हैं जिन्होंने आकाशवाणी में काम करते हुए हिन्दी की लोकप्रियता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। रंगमंच के निर्माण, निर्देशन, अभिनय, संकेत आदि के सम्बन्ध में आपको विशेष सफलता मिली है।

परिवर्तन और राष्ट्र निर्माण के ऐसे ऐतिहासिक समय में जगदीशचंद्र माथुर, आईसीएस, ऑल इंडिया रेडियो के डायरेक्टर जनरल थे। उन्होंने ही 'एआईआर' का नामकरण आकाशवाणी किया था। टेलीविजन उन्हीं के जमाने में वर्ष 1959 में शुरू हुआ था। हिंदी और भारतीय भाषाओं के तमाम बड़े लेखकों को वे ही रेडियो में लेकर आए थे। सुमित्रनंदन पंत से लेकर दिनकर और बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे दिग्गज साहित्यकारों के साथ उन्होंने हिंदी के माध्यम से सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सूचना संचार तंत्र विकसित और स्थापित किया था। जगदीश चंद्र माथुर– उपन्यास– यादों का पहाड़, आधा पुल, मुठ्ठी भर कांकर, कभी न छोड़ें खेत, धरती धन न अपना।

जीवन परिचय

इनका जन्म 16 जुलाई 1917 को उत्तर प्रदेश के बुलंदशहर जिले के खुर्जा में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा खुर्जा में हुई। उच्च शिक्षा यूईंग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद और प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। प्रयाग विश्वविद्यालय का शैक्षिक वातावरण और प्रयाग के साहित्यिक संस्कार रचनाकार के व्यक्तित्त्व निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका हैं। 1939 ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए. (अंग्रेजी) करने के बाद 1941 ई. में 'इंडियन सिविल सर्विस' में चुन लिए गए।

सरकारी नौकरी में 6 वर्ष बिहार शासन के शिक्षा सचिव के रूप में, 1955 से 1962 ई. तक आकाशवाणी – भारत सरकार के महासंचालक के रूप में, 1963 से 1964 ई. तक उत्तर बिहार (तिरहुत) के कमिश्नर के रूप में कार्य करने के बाद 1963-64 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय, अमेरिका में विजिटिंग फेलो नियुक्त होकर विदेश चले गए। वहाँ से लौटने के बाद विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर काम करते हुए 19 दिसम्बर 1971 ई. से भारत सरकार के हिंदी सलाहकार रहे। इन सरकारी नौकरियों में व्यस्त रहते हुए भी भारतीय इतिहास और संस्कृति को वर्तमान संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास चलता ही रहा।

साहित्यिक जीवन

अध्ययनकाल से ही उनका लेखन प्रारंभ होता है। आरम्भ से ही आपकी रूचि अभिनय की ओर थी। प्रयाग विश्वविद्यालय में अपने छात्र जीवन में आपने विश्वविद्यालय के नाटकों में बार-बार हिस्सा लिया। 1930 ई. में तीन छोटे नाटकों के माध्यम से वे अपनी सृजनशीलता की धारा के प्रति उन्मुख हुए। प्रयाग में उनके नाटक 'चाँद', 'रुपाभ' पत्रिकाओं में न केवल छपे ही, बल्कि इन्होंने 'वीर अभिमन्यु', आदि नाटकों में भाग लिया। 'भोर का तारा' में संग्रहीत सारी रचनाएँ प्रयाग में ही लिखी गईं। यह नाम प्रतीक रूप में शिल्प और संवेदना दोनों दृष्टियों से माथुर का रचनात्मक व्यक्तित्त्व के 'भोर का तारा' ही है। इसके बाद की रचनाओं में समकालीनता और परंपरा के प्रति गहराई क्रमशः बढ़ती गई है। व्यक्तियों, घटनाओं और देशके विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त अनुभवों ने सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

आपके एकांकी जीवन की यथार्थ संवेदना को चित्रित करते हैं। व्यापक परिवतर्नों का प्रभाव मध्यवर्ग पर ज्यादा पड़ता है। आपके पात्र अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व और चारित्रिक विशेषताएँ रखते हैं। इन विशेषताओं को अंकित करने

में आपको पूरी सफलता प्राप्त हुई है। आपकी शैली मँजी हुई है। कथोपकथन सुगठित और सजीव हैं। कथोपकथनों के माध्यम से आप पात्रों की मानसिकता को व्यक्त करते हैं। कथोपकथन वातावरण के अनुकूल होते हैं। भोर का तारा, ओ मेरे सपने, आपके प्रसिद्ध एकांकी हैं।

प्रमुख कृतियाँ

नाटक

'भोर का तारा' (1946 ई.),
'कोणार्क' (1953 ई.),
'ओ मेरे सपने' (1950 ई.)
'शारदीया' (1959 ई),
'दस तस्वीरें' (1962 ई.),
'परंपराशील नाट्य' (1968 ई.),
'पहला राजा' (1970 ई.)
'जिन्होंने जीना जाना' (1972 ई.)

समालोचना

माथुर जी के नाटकों में कौतूहल और स्वच्छंद प्रेमाकुलता है। 'भोर का तारा' में कवि शेखर की भावुकता पर्यावरण में घटित करने या रचने का मोह भी प्रारंभ से मिलता है। परंतु समसामयिक को अनुभव के रूप में अनुभूत करके उसकी प्रामाणिकता को संस्कृति के माध्यम से सिद्ध करने का जो आग्रह उनके नाटकों में हैं उसकी रचनात्मक संभावना का प्रमाण 'कोणार्क' में है। परंपरा को माध्यम और संदर्भ के रूप में प्रयोग करने की कला में माथुर सिद्दहस्त हैं। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यही उनका सब कुछ है, बल्कि उन्होंने रीढ़ की हड्डी आदि ऐसे नाटक भी लिखे जिनका संबंध समाज के भीतर के बदलते रिश्तों और मानवीय संबंधों से है। 'शारदीया' के सारे नाटकों में समस्या को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का आभास अवश्य है, परंतु समस्या मात्र का परिवृत्त इतना छोटा है कि वह किसी व्यापक सत्य का आधार नहीं बन पाती। वस्तुतः माथुर छायावादी संवेदना के रचनाकार हैं। यह संवेदना 'भोर का तारा' से लेकर 'पहला राजा' तक में कमोबेश मिलती है। यह अवश्य है कि यह

छायावादिता नाटक के विधागक संस्कार और यथार्थ के प्रति गहरी संसक्ति के कारण 'कोणार्क' और 'पहला राजा' में काफी संस्कारित हुई है।

'कोणार्क' उत्तम नाटक है। इतिहास, संस्कृति और समकालीनता मिलकर निरवधिकाल की धारणा और मानवीय सत्य की आस्था को परिपुष्ट करते हैं। घटना की तथ्यता और नाटकीयता के बावजूद महाशिल्पी विशु की चिंता और धर्मपद का साहसपूर्ण प्रयोग, व्यवस्था की अधिनायकवादी प्रवृत्ति से लड़ने और जुझने की प्रक्रिया एवं उसकी परिणति का संकेत नाटक को महत्वपूर्ण रचना बना देता है। कल्पना की रचनात्मक सामर्थ्य और संस्कृति का समकालीन अनुभव कोणार्क की सफल नाट्य कृति का कारण है। कोणार्क के अंत और घटनात्मक तीव्रता तथा परिसमाप्ति पर विवाद संभव है, परंतु उसके संप्रेषणात्मक प्रभाव पर प्रश्न चिन्ह संभव नहीं है। 'पहला राजा' नाटक के रचना-विधान और वातावरण को 'माध्यम' और 'संदर्भ' में रूप में प्रयोग करके लेखक ने व्यवस्था और प्रजाहित के आपसी रिश्तों को मानवीय दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। स्पुतनिक, अपोलो आदि के प्रयोग के कारण समकालीनता का अहसास गहराता है। पृथु, उर्वी, कवष आदि का प्रयास और उसका परिणाम सब मिलकर नाटक की समकालीनता को बराबर बनाए रखते हैं। पृथ्वी की उर्वर शक्ति, पानी और फावड़ा-कुदाल आदि को उपयोग रचना के काल को स्थिर करता है।

'परंपराशील नाट्य' महत्वपूर्ण समीक्षा-कृति है। इसमें लोक नाट्य की परंपरा और उसकी सामर्थ्य के विवेचन के अलावा नाटक की मूल दृष्टि को समझाने का प्रयास किया गया है। रामलीला, रासलीला आदि से संबद्ध नाटकों और उनकी उपादेयता के संदर्भ में परंपरा का समकालीन संदर्भ में महत्व और उसके उपयोग की संभावना भी विवेच्य है। 'दस तसवीरें' और 'इन्होंने जीना जाना है' रचनाकार के मानस पर प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों की तस्वीरें और जीवनियाँ हैं, जिनका महत्व उनके रेखांकन और प्रभावांकन की दृष्टि से अक्षुण्ण है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना मूलतः कवि एवं साहित्यकार थे, पर जब उन्होंने दिनमान का कार्यभार संभाला तब समकालीन पत्रकारिता के समक्ष उपस्थित चुनौतियों को समझा और सामाजिक चेतना जगाने में अपना अनुकरणीय योगदान दिया। सर्वेश्वर मानते थे कि जिस देश के पास समृद्ध बाल साहित्य नहीं है,

उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं रह सकता। सर्वेश्वर की यह अग्रगामी सोच उन्हें एक बाल पत्रिका के सम्पादक के नाते प्रतिष्ठित और सम्मानित करती है।

जीवन परिचय

जन्म

15 सितंबर 1927 को बस्ती में विश्वेश्वर दयाल के घर।

शिक्षा

इलाहाबाद से उन्होंने बीए और सन 1949 में एमए की परीक्षा उत्तीर्ण की।

कार्यक्षेत्र

1949 में प्रयाग में उन्हें एजी आफिस में प्रमुख डिस्पैचर के पद पर कार्य मिल गया। यहाँ वे 1955 तक रहे।

तत्पश्चात आल इंडिया रेडियो के सहायक संपादक (हिंदी समाचार विभाग) पद पर उनकी नियुक्ति हो गई। इस पद पर वे दिल्ली में वे 1960 तक रहे।

सन 1960 के बाद वे दिल्ली से लखनऊ रेडियो स्टेशन आ गए। 1964 में लखनऊ रेडियो की नौकरी के बाद वे कुछ समय भोपाल एवं रेडियो में भी कार्यरत रहे।

सन 1964 में जब दिनमान पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ तो वरिष्ठ पत्रकार एवं साहित्यकार सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के आग्रह पर वे पद से त्यागपत्र देकर दिल्ली आ गए और दिनमान से जुड़ गए। 1982 में प्रमुख बाल पत्रिका पराग के सम्पादक बने। नवंबर 1982 में पराग का संपादन संभालने के बाद वे मृत्युपर्यन्त उससे जुड़े रहे।

निधन 23 सितंबर 1983 को नई दिल्ली में उनका निधन हो गया।

सर्वेश्वर का रचना संसार

काव्य

1. तीसरा सप्तक – सं. अज्ञेय, 1959

2. काठ की घंटियां - 1959
3. बांस का पुल - 1963
4. एक सूनी नाव - 1966
5. गर्म हवाएं - 1966
6. कुआनो नदी - 1973
7. जंगल का दर्द - 1976
8. खूंटियों पर टंगे लोग - 1982
9. क्या कह कर पुकारूं - प्रेम कविताएं
10. कविताएं (1)
11. कविताएं (2)
12. कोई मेरे साथ चले
13. मेघ आये

काला कोयल 50 कथा-साहित्य

1. पागल कुत्तों का मसीहा (लघु उपन्यास) - 1977
2. सोया हुआ जल (लघु उपन्यास) - 1977
3. उड़े हुए रंग - (उपन्यास) यह उपन्यास सूने चौखटे नाम से 1974 में प्रकाशित हुआ था।
4. कच्ची सड़क - 1978
5. अंधेरे पर अंधेरा - 1980
6. अनेक कहानियों का भारतीय तथा यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद सोवियत कथा संग्रह 1978 में सात महत्वपूर्ण कहानियों का रूसी अनुवाद।

नाटक

1. बकरी - 1974 (इसका लगभग सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद तथा मंचन)
2. लड़ाई - 1979
3. अब गरीबी हटाओ - 1981
4. कल भात आएगा तथा हवालात –(एकांकी नाटक एम.के.रैना के निर्देशन में प्रयोग द्वारा 1979 में मंचित
5. रूपमती बाज बहादुर तथा होरी धूम मचोरी मंचन 1976

यात्रा संस्मरण

1. कुछ रंग कुछ गंध - 1971

बाल कविता

1. बतूता का जूता - 1971
2. महंगू की टाई - 1974

बाल नाटक 1. भों-भों खों-खों - 1975 2. लाख की नाक - 1979

संपादन

1. शमशेर (मलयज के साथ - 1971)
2. रूपांबरा - (सं. अज्ञेय जी - 1980 में सहायक संपादक सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)
3. अंधेरों का हिसाब - 1981
4. नेपाली कविताएं - 1982
5. रक्तबीज - 1977

अन्य

1. दिनमान साप्ताहिक में चरचे और चरखे नाम से चुटीली शैली का गद्य - 1969 से नियमित।
2. दिनमान तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य, नृत्य, रंगमंच, संस्कृति आदि के विभिन्न विषयों पर टिप्पणियां तथा समीक्षात्मक लेख।
3. सर्वेश्वर की संपूर्ण गद्य रचनाओं को चार खण्डों में किताबघर दिल्ली ने छापा है।

राम कुमार वर्मा

डॉ. राम कुमार वर्मा (15 सितंबर, 1905 - 1990) हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, व्यंग्यकार और हास्य कवि के रूप में जाने जाते हैं। उन्हें हिन्दी एकांकी का जनक माना जाता है। उन्हें साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन 1963 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था। इनके काव्य में 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' की झलक है।

डॉ. रामकुमार वर्मा का जन्म मध्य प्रदेश के सागर जिले में 15 सितंबर सन् 1905 ई. में हुआ। इनके पिता लक्ष्मी प्रसाद वर्मा डिप्टी कलैक्टर थे। वर्माजी को प्रारम्भिक शिक्षा इनकी माता श्रीमती राजरानी देवी ने अपने घर पर ही दी, जो उस समय की हिन्दी कवयित्रियों में विशेष स्थान रखती थीं। बचपन में इन्हें 'कुमार' के नाम से पुकारा जाता था। रामकुमार वर्मा में प्रारम्भ से ही प्रतिभा के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते थे। ये सदैव अपनी कक्षा में प्रथम आया करते थे। पठन-पाठन की प्रतिभा के साथ ही साथ रामकुमार वर्मा शाला के अन्य कार्यों में भी काफी सहयोग देते थे। अभिनेता बनने की रामकुमार वर्मा की बड़ी प्रबल इच्छा थी। अतएव इन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में कई नाटकों में एक सफल अभिनेता का कार्य किया है। रामकुमार वर्मा सन् 1922 ई. में दसवीं कक्षा में पहुँचे। इसी समय प्रबल वेग से असहयोग की आँधी उठी और रामकुमार वर्मा राष्ट्र सेवा में हाथ बँटाने लगे तथा एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता के रूप में जनता के सम्मुख आये। इसके बाद वर्माजी ने पुनः अध्ययन प्रारम्भ किया और सब परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी विषय में एम. ए. में सर्वप्रथम आये। रामकुमार वर्मा ने नागपुर विश्वविद्यालय की ओर से 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पर पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। अनेक वर्षों तक रामकुमार वर्मा प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक तथा फिर अध्यक्ष रहे हैं।

सुप्रसिद्ध कवि रामकुमार वर्मा आधुनिक हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि, एकांकी नाटक-लेखक और आलोचक हैं। 'चित्ररेखा' काव्य-संग्रह पर इन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ 'देव पुरस्कार' मिला है। साथ ही 'सप्त किरण' एकांकी संग्रह पर अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन पुरस्कार और मध्यप्रदेश शासन परिषद से 'विजयपर्व' नाटक पर प्रथम पुरस्कार मिला है। रामकुमार वर्मा रूसी सरकार के विशेष आमंत्रण पर मास्को विश्वविद्यालय के अंतर्गत प्रायः एक वर्ष तक शिक्षा कार्य कर चुके हैं। हिन्दी एकांकी के जनक रामकुमार वर्मा ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर 150 से अधिक एकांकी लिखीं। भगवतीचरण वर्मा ने कहा था, 'डॉ. रामकुमार वर्मा रहस्यवाद के पंडित हैं। उन्होंने रहस्यवाद के हर पहलू का अध्ययन किया है। उस पर मनन किया है। उसको समझना हो और उसका वास्तविक और वैज्ञानिक रूप देखना हो तो उसके लिए श्री वर्मा की 'चित्ररेखा' सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रंथ होगा।'

''जिस देश के पास हिंदी जैसी मधुर भाषा है वह देश अंग्रेजी के पीछे दीवाना क्यों है? स्वतंत्र देश के नागरिकों को अपनी भाषा पर गर्व करना चाहिए। हमारी भावभूमि भारतीय होनी चाहिए। हमें जूठन की ओर नहीं ताकना चाहिए'' – डॉ. रामकुमार वर्मा रुचि डॉ. रामकुमार वर्मा की कविता, संगीत और कलाओं में गहरी रुचि थी। 1921 तक आते-आते युवक रामकुमार गाँधी जी के उनके असहयोग आंदोलन में सम्मिलित हो गए। उन्होंने 17 वर्ष की आयु में एक कविता प्रतियोगिता में 51 रुपए का पुरस्कार जीता था। यहीं से उनकी साहित्यिक यात्र आरंभ हुई थी। डॉ. रामकुमार वर्मा ने देश ही नहीं विदेशों में भी हिन्दी का परचम लहराया। 1957 में वे मास्को विश्वविद्यालय के अध्यक्ष के रूप में सोवियत संघ की यात्रा पर गए। 1963 में उन्हें नेपाल के त्रिभुवन विश्वविद्यालय ने शिक्षा सहायक के रूप में आमंत्रित किया। 1967 में वे श्रीलंका में भारतीय भाषा विभाग के अध्यक्ष के रूप में भेजे गए।

मोहन राकेश

मोहन राकेश नई कहानी आन्दोलन के सशक्त हस्ताक्षर थे।

पंजाब विश्वविद्यालय से हिन्दी और अंग्रेजी में एम.ए. किया। जीविकोपार्जन के लिये अध्यापन। कुछ वर्षो तक 'सारिका' के संपादक। 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे अधूरे' और लहरों के राजहंस के रचनाकार। 'संगीत नाटक अकादमी' से सम्मानित। 3 जनवरी 1972 को नयी दिल्ली में आकस्मिक निधन। मोहन राकेश हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा संपन्न नाट्य लेखक और उपन्यासकार हैं। समाज के संवेदनशील व्यक्ति और समय के प्रवाह से एक अनुभूति क्षण चुनकर उन दोनों के सार्थक सम्बन्ध को खोज निकालना, राकेश की कहानियों की विषय-वस्तु है। मोहन राकेश की डायरी हिंदी में इस विधा की सबसे सुंदर कृतियों में एक मानी जाती है।

नाट्य-लेखन

मोहन राकेश को कहानी के बाद सफलता नाट्य-लेखन के क्षेत्र में मिली। हिंदी नाटकों में भारतेंदु और प्रसाद के बाद का दौर मोहन राकेश का दौर है जिसें हिंदी नाटकों को फिर से रंगमंच से जोड़ा। हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु और प्रसाद के बाद यदि लीक से हटकर कोई नाम उभरता है तो मोहन राकेश का। हालाँकि बीच में और भी कई नाम आते हैं जिन्होंने आधुनिक हिन्दी नाटक की

विकास-यात्रा में महत्त्वपूर्ण पड़ाव तय किए हैं, किन्तु मोहन राकेश का लेखन एक दूसरे ध्रुवान्त पर नजर आता है। इसलिए ही नहीं कि उन्होंने अच्छे नाटक लिखे, बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने हिन्दी नाटक को अँधेरे बन्द कमरों से बाहर निकाला और उसे युगों के रोमानी ऐन्द्रजालिक सम्मोहक से उबारकर एक नए दौर के साथ जोड़कर दिखाया। वस्तुतः मोहन राकेश के नाटक केवल हिन्दी के नाटक नहीं हैं। वे हिन्दी में लिखे अवश्य गए हैं, किन्तु वे समकालीन भारतीय नाट्य प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। उन्होंने हिन्दी नाटक को पहली बार अखिल भारतीय स्तर ही नहीं प्रदान किया वरन् उसके सदियों के अलग-थलग प्रवाह को विश्व नाटक की एक सामान्य धारा की ओर भी अग्रसर किया। प्रमुख भारतीय निर्देशकों इब्राहीम अलकाजी, ओम शिवपुरी, अरविन्द गौड़, श्यामानन्द जालान, राम गोपाल बजाज और दिनेश ठाकुर ने मोहन राकेश के नाटकों का निर्देशन किया।

मोहन राकेश के दो नाटकों आषाढ़ का एक दिन तथा लहरों के राजहंस में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेने पर भी आधुनिक मनुष्य के अंतद्वंदू और संशयों की ही गाथा कही गयी है। एक नाटक की पृष्ठभूमि जहां गुप्तकाल है तो दूसरा बौद्धकाल के समय के ऊपर लिखा गया है। आषाढ़ का एक दिन में जहां सफलता और प्रेम में एक को चुनने के द्वन्द से जूझते कालिदास एक रचनाकार और एक आधुनिक मनुष्य के मन की पहेलियों को सामने रखते हैं वहां प्रेम में टूटकर भी प्रेम को नहीं टूटने देने वाली इस नाटक की नायिका के रूप में हिंदी साहित्य को एक अविस्मरणीय पात्र मिला है। लहरों के राजहंस में और भी जटिल प्रश्नों को उठाते हुए जीवन की सार्थकता, भौतिक जीवन और अध्यात्मिक जीवन के द्वन्द, दूसरों के द्वारा अपने मत को दुनिया पर थोपने का आग्रह जैसे विषय उठाये गए हैं। राकेश के नाटकों को रंगमंच पर मिली शानदार सफलता इस बात का गवाह बनी कि नाटक और रंगमंच के बीच कोई खाई नहीं है। मोहन राकेश का तीसरा व सबसे लोकप्रिय नाटक आधे-अधूरे है। जहाँ नाटककार ने मध्यवर्गीय परिवार की दमित इच्छाओ कुंठाओ व विसंगतियो को दर्शाया है। इस नाटक की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक न होकर आधुनिक मध्यवर्गीय समाज है। आधे अधूरे में वर्तमान जीवन के टूटते हुए संबंधों, मध्यवर्गीय परिवार के कलहपूर्ण वातावरण विघटन, सन्त्रास, व्यक्ति के आधे अधूरे व्यक्तित्त्व तथा अस्तित्त्व का यथात्मक सजीव चित्रण हुआ है। मोहन राकेश का यह नाटक, अनिता औलक की कहानी दिन से दिन का नाट्य रूपांतरण है।

प्रमुख कृतियाँ

उपन्यास

अंधेरे बंद कमरे, अन्तराल, न आने वाला कल।

नाटक

आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे। अण्डे के छिलके

कहानी संग्रह

क्वार्टर तथा अन्य कहानियाँ, पहचान तथा अन्य कहानियाँ, वारिस तथा अन्य कहानियाँ।

निबंध संग्रह

परिवेश

अनुवाद

मृच्छकटिक, शाकुंतलम।

यात्रा वृताँत

आखिरी चट्टान

स्वदेश दीपक

स्वदेश दीपक (1942) एक भारतीय नाटककार, उपन्यासकार और लघु कहानी लेखक है। उन्होंने 15 से भी अधिक प्रकाशित पुस्तकें लिखी हैं। स्वदेश दीपक हिंदी साहित्यिक परिदृश्य पर 1960 के दशक के मध्य से सक्रिय है। उन्होंने हिंदी और अंग्रेजी में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की थी। छब्बीस साल उन्होंने अम्बाला के गांधी मेमोरियल कालेज में अंग्रेजी साहित्य पढ़ाया। उन्हें संगीत नाटक अकादमी सम्मान (2004) से सम्मानित किया गया। वे 2 जून 2006 को, सुबह की सैर के लिए निकले और आज तक वापस नहीं आए।

कृतियाँ

कहानी संग्रह- अश्वारोही (1973), मातम (1978), तमाशा (1979), प्रतिनिधि कहानियां (1985), बाल भगवान (1986), किसी अप्रिय घटना का

समाचार नहीं (1990), मसखरे कभी नहीं रोते (1997), निर्वाचित कहानियां (2003)

उपन्यास- नंबर 57 स्क्वाड्रन (1973), मायापोत (1985)

नाटक- बाल भगवान (1989), कोर्ट मार्शल (1991), जलता हुआ रथ (1998), सबसे उदास कविता (1998), काल कोठरी (1999)

संस्मरण- मैंने मांडू नहीं देखा (2003)

कोर्ट मार्शल

कोर्ट मार्शल स्वदेश दीपक का सर्वश्रेष्ठ नाटक है।, दीपक स्वदेश के कोर्ट मार्शल का अरविन्द गौड़ के निर्देशन में अस्मिता थियेटर ग्रुप द्रारा भारत भर में 450 बार से अधिक मंचन। रंगमंच निर्देशक रन्जीत कपूर, उषा गांगुली, अमला राय और नादिरा बब्बर ने भी इसका मन्चन किया। यह कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया है रंगकर्मियों में इस दशक का लोकप्रिय, प्रासंगिक, सामाजिक और राजनीतिक नाटक।

हरिकृष्ण प्रेमी

हरिकृष्ण 'प्रेमी' का जन्म 1908 ई. को गुना, ग्वालियर, मध्य प्रदेश में हुआ था। इनका परिवार राष्ट्रभक्त था तथा इनमें बचपन से ही राष्ट्रीयता के संस्कार थे। दो वर्ष की अवस्था में माता की मृत्यु हो गयी थी। प्रेम की अतृप्त तृष्णा ने उन्हें स्वयं 'प्रेमी' बना दिया। बंधु-बांधवों के प्रति स्नेहालु, मित्रों के प्रति अनुरक्त, स्वदेशानुराग, मनुष्य मात्र के प्रति सौहाद्र-यही उनके अंतर मन का विकास है।

रचनायें 'प्रेमी' जी की सर्वप्रथम प्रकाशित रचना 'स्वर्ण विहान' (1930 ई.) गति-नाट्य है। उसमें प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं की बड़ी रसात्मक अभिव्यक्ति है। पहले ऐतिहासिक नाटक 'रक्षा-बंधन' (1938 ई.) में गुजरात के बहादुर शाह के आक्रमण के अवसर पर चित्तौड़ की रक्षा के लिए रानी कर्मवती द्वारा मुगल सम्राट हुमायूँ को राखी भेजने का प्रसंग है। इस रचना का मूल उद्देश्य हिंदू मुस्लिम सामंजस्य की भावना जगाना है। 'शिवा साधना' (1937 ई.) में शिवाजी की औरंगजेब की साम्प्रदायिक एवं तानाशाही नीति के विरोधी तथा धर्म निरपेक्षता और राष्ट्रीय भावना के संस्थापक के रूप में चित्रित किया गया है। 'प्रतिशोध' (1937 ई.) में छत्रपाल द्वारा बुंदेलखण्ड की शक्तियों को एकत्र

करके औरंगजेब से टक्कर लेने का प्रसंग है। 'आहुति' (1940 ई.) में रणथम्भौर के हम्मीर देव द्वारा शरणागत रक्षा के लिए अलाउद्दीन खिलजी से संघर्ष और आत्म बलिदान की कथा है। 'स्वप्नभंग' (1940 ई.) में दारा की पराजय से धर्म निरपेक्षता के आदर्श के खण्डित होने का दु:खद दृश्य है। 'मित्र' (1945 ई.), 'नवीन संज्ञा', 'शतरंज के खिलाड़ी' में युद्ध-क्षेत्र में परस्पर एक दूसरे का विरोध करते हुए भी दो व्यक्तियों के मित्रता निर्वाह का आख्यान है। 'विषपान' (1945 ई.) में मेवाड़ की राजकुमारी का स्वदेश-रक्षा के लिए आत्मघात का प्रसंग है। 'उद्धार', 'भग्न प्राचीर', 'प्रकाशस्तम्भ', 'कीर्तिस्तम्भ', 'विदा' और सौंपों की सृष्टि में भी मध्यकालीन कथा-प्रसंग ही लिये गये हैं। 'शपथ' और 'संवत प्रवर्तन' आदिमयुगीन इतिहास पर आधारित है। 'संरक्षक' का कथा-प्रसंग अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक काल से उसकी 'येन केन प्रकारेण' साम्राज्य विस्तार की नीति को स्पष्ट करने के लिए लिया गया है। 'पाताल विजय' (1936 ई.) 'प्रेमी' जी का एकमात्र पौराणिक नाटक है।

'प्रेमी' जी ने सामाजिक नाटक भी लिखे हैं। 'बंधन' (1940 ई.) में मजदूरों और पूँजीपति के संघर्ष का चित्रण है। समस्या का हल गाँधी जी की हृदय-परिवर्तन की नीति पर आधारित है। 'छाया' (1941 ई.) में एक साहित्यकार के आर्थिक संघर्ष का चित्रण है। 'ममता' में दाम्पत्य जीवन की समस्याओं का उद्घाटन है। 'प्रेमी' जी की एकांकी रचना 'बेड़ियाँ' में भी इसी समस्या को लिया गया है। 'प्रेमी' जी के दो एकांकी संग्रह 'मंदिर' (1942 ई.)और 'बादलों के पार' (1942 ई.) भी प्रकाशित हुए है। पहले संग्रह की सभी रचनाएँ 'नयी संज्ञा' देकर नये संग्रह में भी है। 'बादलों के पार', 'घर या होटल', 'वाणी मंदिर', 'नया समाज', 'यह मेरी जन्म भूमि है', और 'पश्चात्ताप' एकांकियों में आज की सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। 'यह भी एक खेल है', 'प्रेम अंधा है', 'रूप शिखा', 'मातृभूमि का मान' और 'निष्ठुर न्याय', ऐतिहासिक एकांकी हैं। इनमें प्रेम के आर्दशवादी और विद्रोही स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है।

'प्रेमी' जी ने इधर गीति-नाट्य की शैली के कई प्रयोग किये हैं। 'सोहनी महीवाल', 'सस्सी पुन्नू', 'मिर्जा साहिबा', 'हीर राँझा' और 'दुल्लाभट्टी'। ये सभी पंजाब में प्रसिद्ध प्रेम-गाथाओं पर आधारित रेडियों के लिए लिखित संगीत रूपक हैं। प्रेम के एकनिष्ठ और विद्रोही रूप को इनमें भी उपस्थित किया गया है। देवदासी' संगीत-रूपक में भी काल्पनिक कथा को लेकर प्रेम को मनुष्य का

स्वाभाविक गुणधर्म दिखाया गया है। 'मीराबाई' में व्यक्तिगत जीवन की कठोरताओं से प्रेरित होकर गिरिधर गोपाल की माधुरी उपासना में आश्रय लेने वाली मीरा की जीवन-कथा है।

हरिकृष्ण जी का हिंदी नाटककारों में अपना विशिष्ट स्थान है। मध्यकालीन इतिहास से कथा प्रसंगो को लेकर उन्होंने हमें राष्ट्रीय जागरण, धर्म निरपेक्षता तथा विश्व-बंधुत्व के महान् संदेश दिये हैं। उनके नाटकों में स्वच्छंदतावादी शैली का बड़ा संयमित और अनुशासनपूर्ण उपयोग है, इसलिए उनके नाटक रंगमच की दृष्टि से सफल हैं। उनके सामाजिक नाटकों में वर्तमान जीवन की विषमंताओं के प्रति तीव्र आक्रोश और विद्रोह का स्वर सुनने को मिलता है। किसी समस्या का चित्रण करते हुए वे उसका हल अवश्य देते हैं और इस सम्बन्ध में गाँधी जी के जीवन-दर्शन का उन पर विशेष प्रभाव है।

कविता संग्रह- 'प्रेमी' जी का कविता-संग्रह 'आँखों में' (1930 ई.) प्रेम के विरह-विदग्ध वेदनामय स्वरूप की अभिव्यक्ति है। 'जादूगरनी' (1932 ई.) में कबीर की 'माया महाठगिनी' के मोहक प्रभाव का वर्णन एवं रहस्यात्मक अनुभूतियों की व्यंजना है। 'अनंत के पथ पर' (1932 ई.) रहस्यानुभूमि को और घनीभूत रूप में उपस्थित करता है। 'अग्निगान' (1940 ई.) में कवि अनल वीणा लेकर राष्ट्रीय जागरण के गीत या उठा है। 'रूप दर्शन' में गजल और गीति-शैली के सम्मिलित विधान में सौंदर्य के मोहक प्रभाव को वाणी मिली है। 'प्रतिभा' में प्रेमी का प्रणय-निवेदन बड़ा मुखर हो उठा है। 'वंदना के बोल' में गाँधी जी और उनके जीवन दर्शन पर लिखित रचनाएँ हैं। 'रूप रेखा' में गजल के बन्द का सशक्त प्रयोग और 'प्रेमी' के हृदय की आकुल पुकार है 'प्रेमी' जी ने मुक्त छंद में भी कुछ रचनाएँ की हैं। 'करना है संग्राम', 'बेटी की विदा' और 'बहन का विवाह'- ये सभी संस्मरणात्मक हैं और इनमें 'प्रेमी जी' के विद्रोही दृष्टिकोण, नवीन मान्यताओं और नूतन आदर्शों की बड़ी प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति है।

3

हिन्दी आलोचना में कबीर

कबीर की कविता हिन्दी आलोचना के सर्वाधिक विचारणीय काव्य-क्षेत्रों में शामिल रही है। इसकी व्यापक और सुदीर्घ लोकप्रियता तथा क्रान्तिकारी प्रभावों ने हिन्दी आलोचकों को अपनी ओर आकर्षित किया है। आलोचकों को यह अपने कालजयी मूल्यों और साहित्यिक तत्त्वों के अन्वेषण के लिए आमन्त्रण और चुनौती देता रहा है। हिन्दी के प्रमुख आलोचकों ने कबीर-काव्य के सामाजिक सरोकारों के साथ क्रान्तिकारी परिवर्तन की भूमिका की भी तलाश की है। कबीर की कविता अनेक आलोचकों के आलोचना के प्रतिमान विकसित करने का आधार भी बनी है। ऐसे में यह जानना जरूरी है कि हिन्दी आलोचना में कबीर की कविता का मूल्यांकन किस रूप में किया गया है? उसके मूल्यांकन के लिए विभिन्न आलोचकों ने क्या आधार चुना है? आलोचकों ने कबीर की कविता से क्या निष्कर्ष निकाले हैं, और इसने भक्ति-काव्य को समझने के तरीके को कैसे प्रभावित किया है इन बातों को ध्यान में रखकर इस पाठ में विचार किया गया है।

कबीर सम्बन्धी हिन्दी आलोचना का परिदृश्य

परवर्ती काल के अनुयायियों के साथ-साथ उनके समकालीनों ने भी कबीर के रचनाओं पर विचार किया है। इनमें हिन्दी आलोचना के उद्‌भव के पूर्व

के रचनाकार नाभादास के कबीर सम्बन्धी दो छप्पय बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। कबीर सम्बन्धी एक प्रसिद्ध छप्पय में नाभादास ने लिखा है –

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी।
भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम कर गायौ।
जोग, जग्य, व्रत, दान, भजन, बिनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दू तुरक प्रमान, रमैनी, शबदी, साखी।
पक्षपात नहीं बचन, सबही के हित की भाखी।
आरूढ़ दसा हे जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी।

(प्रकाश नारायण दीक्षित (सं) भक्तमाल–एक अध्ययन, प्रथम संस्करण सन् 1961, साहित्य भवन, इलाहाबाद, पृ. 69)

अर्थात् कबीर ने भक्ति से विमुख धर्म को अधर्म कहा। योग, यज्ञ, व्रत और दान को भजन बिना तुच्छ बताया। हिन्दू और तुर्क में भेद करने के बजाय पक्षपात रहित रहने को कहा और सबका हित करने वाली साखी, शबद, रमैनी के रूप में अपना वचन सुनाया। किसी की मुँहदेखी नहीं कही, चाहे वह कितना भी बड़ा हो। और वर्णाश्रम और षटदर्शन की मर्यादा नहीं रखी। नाभादास को कबीर की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ चिन्हित करने में पर्याप्त सफलता मिली है। नाभादास ने अपने भक्तमाल में मीरा की विशेषताएँ भी इतनी ही बारीकी से गिनाई। कबीर काव्य के आधुनिक आलोचकों ने भी विस्तार से कबीर का यही रूप प्रस्तुत किया है। कबीर ने वर्ण, धर्म, जाति आदि के आधार पर भेद करने को अस्वीकार किया और समानतापरक मानवीय मूल्यों की स्थापना पर जोर दिया। उन्होंने बाह्याडम्बर और कर्मकाण्ड के बजाय शान्त समर्पित भक्ति और प्रेम का मार्ग दिखाया।

आधुनिक काल से पूर्व निर्मित कबीर की यह छवि हिन्दी आलोचना को विरासत में मिली थी। हिन्दी आलोचना आरम्भ में कमोवेश इसी रास्ते की ओर उन्मुख हुई। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों – गार्सा द तासी, शिव सिंह सैंगर, जॉर्ज गियर्सन, मिश्रबन्धुओं ने कबीर की नोटिस ली, जो विकास की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हों पर कबीर काव्य के मूल्यांकन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उल्लेखनीय है कि मिश्रबन्धुओं ने कबीर को तुलसी और सूर के साथ हिन्दी कविता के नवरत्नों में स्थान दिया था। उनके बाद के हिन्दी साहित्य के इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की त्रिवेणी में जायसी को शामिल किया

और कबीर को बाहर कर दिया। इसी समय सन् 1916 ई. में अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने कबीर-वचनावली का सम्पादन कर उसकी लम्बी भूमिका लिखी। इस भूमिका में उन्होंने कबीर की रचनाओं को हिन्दू-पद्धति के अनुरूप दिखाने की कोशिश की। कबीर सम्बन्धी आलोचना की दृष्टि से तीसरे दशक में आई श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित कबीर ग्रन्थावली की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने एक तरफ तो बाद के आलोचकों के लिए पाठाधार का निर्माण कर दिया और दूसरी तरफ उसकी प्रस्तावना में कबीर सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण दिशाओं का उल्लेख किया। कबीर सम्बन्धी आलोचना में उल्लेखनीय परिवर्तन सन् 1942 में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक कबीर के प्रकाशन के बाद आया। यह पुस्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बहुत-सी मान्यताओं का प्रतिवाद करती थी। इसलिए हम पहले रामचन्द्र शुक्ल की कबीर सम्बन्धी आलोचना से परिचित होंगे। इसके बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्थापनाओं को समझेंगे।

रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि में कबीर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कबीर सम्बन्धी आलोचना में कबीर एवं निर्गुण सन्तों के प्रति नकारात्मक दृष्टि स्पष्ट झलकती है। तुलसी की रचनाओं के आधार पर आलोचकीय प्रतिमान विकसित करने वाले आचार्य शुक्ल ने भक्ति के तीन अंग - कर्म, धर्म और ज्ञान माने हैं। उनके मत से रामकाव्य इसीलिए सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें तीनों अंगों का पूर्ण विकास मिलता है। इस प्रतिमान पर उन्हें कबीर आदि सन्तों का निर्गुण-काव्य सीमित महत्त्व का लगा। उन्होंने उसे कर्म से दूर कर देने वाला माना। उन्होंने लिखा कि - "कबीर तथा अन्य निर्गुणपन्थी सन्तों के द्वारा अन्त:साधना में रागात्मिका 'भक्ति' और 'ज्ञान' का योग तो हुआ, पर 'कर्म' की दशा वही रही, जो नाथपन्थियों के यहाँ थी। इन सन्तों के ईश्वर ज्ञानस्वरूप और प्रेमस्वरूप ही रहे, धर्मस्वरूप न हो पाए।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, कालविभाग, पृ. 42)

रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना की शैली केवल निर्णयकर्ता वाली नहीं है, बल्कि वे साहित्य का विश्लेषण भी करते हैं। कबीर-काव्य के आलोचनात्मक विश्लेषण में उन्होंने कबीर की अनेक विशेषताएँ रेखांकित की हैं, जो उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कबीर को निर्गुण पन्थ का प्रवर्तक माना है। वे लिखते हैं कि - "नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि

निर्गुणपन्थ के लिए मार्ग निकालने वाले नाथपन्थ के योगी और भक्त नामदेव थे। जहाँ तक पता चलता है, 'निर्गुण मार्ग' के निर्दिष्ट प्रवर्तक कबीरदास ही थे" आचार्य शुक्ल ने कबीर को हिन्दू और मुसलमान के बीच सामान्य भक्ति मार्ग निकालकर एकता स्थापित करने का श्रेय दिया है। वे लिखते हैं कि "भक्ति के आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आई, उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई। 3 महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (संवत् 1328-1408) ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग निर्गुणपन्थ के नाम से चलाया।"

रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर काव्य के सामाजिक महत्त्व को भी रेखांकित किया। वे कबीर की भक्ति को शुष्कता एवं निम्नवर्गीय जनता की आत्मदीनता के भाव से उबारने के कारण महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि "इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपन्थियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।"(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, कालविभाग, पृ. 42)

इस तरह शुक्ल शिक्षित जनता के लिए कबीर एवं निर्गुण सन्तों के महत्त्व को अमान्य करते हुए भी उन्हें निम्न वर्ग के समाज सुधारक के रूप में देख रहे थे। शुक्ल लिखते हैं कि "संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन सन्त महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पाश्चात्यों ने इन्हें जो धर्मसुधारक की उपाधि दी है, वह इसी बात को ध्यान में रखकर दी है। "

कबीर काव्य के सामाजिक सरोकार के साथ ही उसके स्वरूप, दार्शनिक आधार और उसकी साहित्यिक विशेषताएँ भी शुक्ल जी द्वारा रेखांकित की गई

हैं। कबीर काव्य पर अद्वैतवाद, सूफीवाद, सिद्ध-नाथ आदि विचारधारा के प्रभाव को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा कि "सारांश यह कि जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचारपद्धति में ज्ञान मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पन्थ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं।" शुक्ल जी ने कबीर पर इन प्रभावों को विस्तार से रेखांकित किया है। कबीर काव्य के सामाजिक सरोकार को रेखांकित करते हुए शुक्ल जी ने उनकी कर्मकाण्ड और बाह्याचारों की आलोचना कर मनुष्यों में भेद को मिटाने वाली विशेषता को रेखांकित किया है।

उन्होंने लिखा है कि "उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकाण्ड को प्रधानता देने वाले पण्डितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और राम-रहीम की एकता समझा कर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही।"

रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर के माधुर्य के पदों को काम-वासना से मुक्त रखने के लिए प्रशंसा की है। वे लिखते हैं कि "कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा, पर सूफियों से जो प्रेम-तत्त्व उन्होंने लिया वह सूफियों के यहाँ चाहे कामवासनाग्रस्त हुआ हो, पर 'निर्गुणपन्थ' में अविकृत रहा। यह निस्सन्देह प्रशंसा की बात है।" इसके अतिरिक्त कबीर की कविता में मौजूद विरोधों से चमत्कारी प्रभाव पैदा करने की क्षमता को भी रेखांकित किया है। आचार्य शुक्ल ने यह माना है कि "यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी, जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।"

यह ध्यान रखना चाहिए कि कबीर सम्बन्धी आचार्य शुक्ल का तमाम विश्लेषण एक नकारात्मक चेतना के साए में हुआ है, इसलिए विशेषताओं के रेखांकन के बावजूद, वे कबीर को महत्त्व नहीं दे पाए। कबीर के सम्बन्ध में

उनकी यह राय बनी रही कि "कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी-कभी कहते थे।" कबीर की आलोचना करते हुए शुक्ल जी ने कई ऐसी स्थापनाएँ या निष्कर्ष दिए जो उनके विश्लेषण के विरुद्ध जा रहे थे। कबीर की कविता की दीर्घ लोकप्रियता और व्यापक सामाजिक प्रभाव उसे नए ढंग से पढ़े जाने की माँग कर रहा था। हिन्दी आलोचना में शुक्ल के बाद पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और फिर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि में कबीर

हिन्दी साहित्य में कबीर के महत्त्व की स्थापना का श्रेय हजारी प्रसाद द्विवेदी को है। उन्होंने तीन पुस्तकों मध्यकालीन धर्म-साधना, कबीर और हिन्दी साहित्य की भूमिका में कबीर की रचनाओं के आधार पर विकसित प्रतिमानों से भक्तिकालीन साहित्य को देखा। शुक्ल जी ने कबीर को समाज-सुधारक माना था, कवि नहीं। द्विवेदी जी का मत है कि कबीर को कवि, समाज-सुधारक, धर्म-प्रवर्तक आदि रूपों के बजाय भक्त और आध्यात्मिक गुरु के रूप में देखना चाहिए। सन् 1942 में प्रकाशित कबीर हिन्दी आलोचना की पहली पुस्तक है, जिसमें कबीर-काव्य पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। इसमें द्विवेदी ने लिखा कि "कबीर धर्मगुरु थे। इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए।" कबीर-काव्य के विश्लेषण के बाद दिए गए उनके कई अन्य निष्कर्ष इस राय से अलग कबीर को अद्वितीय कवि के रूप में स्थापित करने वाले हैं। कबीर की काव्य-भाषा को शुक्ल जी ने उबड़-खाबड़ और अटपटी कहा था। द्विवेदी जी ने कबीर को भाषा का पूर्ण अधिकारी घोषित करते हुए लिखा कि "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे, जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया - बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नहीं कह सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। वाणी के ऐसे बादशाह को

साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वादन कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।" द्विवेदी जी ने कबीर की भाषा की व्यंग्य-क्षमता की भी भरपूर सराहना की है। उन्होंने लिखा कि "व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानते। पण्डित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी - सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं पाता।" कबीर की इन क्षमताओं ने उन्हें यह मानने पर मजबूर किया है कि उनकी कविता साहित्यिकता से भरपूर है, मगर वे कबीर को भक्त रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, इसलिए वे उनके कवि रूप को पार्श्व में रखते हैं। उन्होंने लिखा है कि "इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की, तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।" द्विवेदी जी की स्थापनाओं के अनुसार कबीर को कवि नहीं मानने के पहले यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्होंने तुलसीदास को भी कवि माना है और कबीर को उनकी तुलना में अद्वितीय कहा है। वे लिखते हैं कि "हिन्दी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर-जैसा व्यक्तित्त्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, वे हैं, तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।"

द्विवेदी जी ने कबीर सम्बन्धी पूर्ववर्ती, और विशेषकर शुक्ल जी की आलोचना के बाद पैदा हुई बहुत सी भ्रान्तियों का निवारण किया। भारत की धर्म और काव्य-परम्परा का गहन अन्वेषण कर उन्होंने साबित किया कि कबीर किसी विदेशी धर्म दर्शन को अपनाकर नहीं चले थे, बल्कि उनकी काव्य-परम्परा का मूल भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में है। शुक्ल जी ने परम्परा के भीतर शास्त्र के स्वीकार को महत्त्व दिया था। द्विवेदी जी ने लोक तथा अस्वीकार और संघर्ष को महत्त्व दिया। उन्होंने साहित्य की धारा को सांस्कृतिक विरासत से जोड़कर देखने पर जोर दिया। उनकी भारतीय परम्परा हिन्दू परम्परा नहीं है। उसमें बौद्ध, जैन धर्म, अनेक मत-मतान्तर और लोक-पक्ष भी शामिल है। ये आलोचनात्मक

प्रतिमान विकसित करने में उन्होंने कबीर काव्य को आधार के रूप में ग्रहण किया है। इन प्रतिमानों के निर्माण के जरिए उन्होंने कबीर को हिन्दी के अद्वितीय भक्त कवि के रूप में स्थापित करने में सफलता पाई है।

परवर्ती आलोचना में कबीर

शुक्ल जी एवं द्विवेदी जी की कबीर सम्बन्धी स्थापनाओं ने जिस संवाद की शुरुआत की थी, उसमें स्वातन्त्र्योत्तर युग के आलोचकों – मुक्तिबोध, रामकुमार वर्मा, पारसनाथ तिवारी, माताप्रसाद गुप्त, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र आदि ने भी भागीदारी की है। स्त्री, दलित आदि समूहगत विमर्शों के उत्थान के बाद कबीर के आलोचनात्मक मूल्यांकन में निर्णायक परिवर्तन आया है, विशेष रूप से दलित आलोचना ने कबीर की नई व्याख्या की है। दलित आलोचकों में डॉ. धर्मवीर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिशील आलोचना में कबीर

प्रगतिशील आलोचकों ने सामाजिक कुरीतियों, जाति और धर्मगत आडम्बरों की आलोचना कर नये समाज के निर्माण के कबीर के प्रयास पर बल दिया। उन्होंने कबीर को तुलसी से भिन्न पंथ पर चलने वाले क्रान्तिकारी कवि के रूप में स्थापित किया। इस दृष्टि से मुक्तिबोध का मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू उल्लेखनीय है। वे कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वास और जातिवाद के खिलाफ आवाज उठाने के कारण तुलसीदास की तुलना में कबीर को अधिक आधुनिक मानते हैं। उन्होंने लिखा कि "राम के चरित्र द्वारा और तुलसीदासजी के आदर्शों द्वारा सदाचार का रास्ता भी मिला। किन्तु वह मार्ग कबीर के और अन्य निर्गुणवादियों के सदाचार का जनवादी रास्ता नहीं था। सच्चाई और ईमानदारी, प्रेम और सहानुभूति से ज्यादा बड़ा तकाजा था सामाजिक रीतियों का पालन।" (मुक्तिबोध, मध्यकालीन भक्ति–आन्दोलन का एक पहलू, मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986, पृ. 294) इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "तुलसीदासजी को पुरातनवादी कहा जाएगा कबीर की तुलना में, जिनके विरुद्ध शुक्लजी ने चोटें की हैं।" (वही, पृ. 294) कबीर के मूल्यांकन की दृष्टि से नामवर सिंह की दूसरी परम्परा की खोज पुस्तक भी उल्लेखनीय है। इसमें कबीर के लोकधर्म और अस्वीकार के साहस के सहारे दूसरी परम्परा

की परिकल्पना की गई है, जिसमें हजारीप्रसाद द्विवेदी का भक्ति-काव्य सम्बन्धी लेखन की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। कबीर पर नामवर सिंह ने कुछ स्वतन्त्र आलेखों के रूप में भी विचार किया है। मुक्तिबोध की तरह उन्होंने भी कबीर के सामन्ती पुरोहिती जकड़बन्दी के खिलाफ आवाज बुलन्द करने को क्रान्तिकारी कर्म के रूप में रेखांकित किया है। सन् 1982 में प्रकाशित अस्वीकार का साहस में वे लिखते हैं कि "कबीर जैसे सन्त का विरोध सम्भवतः इसी सामन्ती-पुरोहिती के दमन के चक्र से था, जिसमें जनसाधारण हिन्दू-मुसलमान, दोनों ही पिस रहे थे। यह दमन-चक्र किसी राजनीतिक अत्याचार से कितना अधिक और अमानुषिक है, इसे आज स्वाधीन भारत के किसी क्रान्तिकारी को बतलाने की जरूरत नहीं है। इसलिए यदि कबीर ने अपने जमाने के किसी सुल्तान को छोड़कर सामन्ती-पुरोहिती शक्तियों के खिलाफ आवाज उठाई तो सिर्फ इसी कारण उनकी क्रान्तिकारिता कम नहीं हो जाती।"

समूहगत विमर्श

हिन्दी आलोचना ने बीसवीं सदी के अन्तिम दशक तक आते-आते स्त्री, दलित, आदिवासी आदि समूहों के विमर्श के रूप में नई दिशा और तेवर ग्रहण किया। स्त्री आलोचकों ने कबीर की स्त्री-दृष्टि की आलोचना की। उन्होंने पितृसत्ता के नकारात्मक प्रभाव को वहन करने और सँवारने की दृष्टि से कबीर को सगुण भक्तों के समान ही निन्दनीय ठहराया। कबीर से भी अधिक स्त्रीवादी आलोचना ने कबीर के पदों की पितृसत्तात्मक नकारात्मकता से युक्त व्याख्या करने वाले आलोचकों की आलोचना की। अनुराधा ने सती प्रथा, भक्ति-काव्य और हिन्दी मानसिकता नामक आलेख में कबीर के एक प्रसिद्ध पद की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा कि "प्रसिद्ध पद दुलहिन गावहु मंगलाचार को 'मंगलाचार' शब्द पर जोर देकर सीधे-सीधे विवाह-उत्सव का गीत व्याख्यायित किया गया। लेकिन विवाह में 'सरोवर के किनारे वेदी' बनाने का विधान तो है नहीं और राजस्थान में सती के गीतों को 'मंगलाचार' कहते हैं। यहाँ यह बात उठाते ही व्याख्या खण्ड-खण्ड हो जाती है। 'सरोवर' पर जोर देते ही अर्थ विधान 'दुल्हन' को 'सती' के लिए लाई गई स्त्री में बदल देता है।" (अनुराधा, सती प्रथा, भक्ति-काव्य और हिंदी मानसिकता, फिलहाल 21-22, सम्पादक-प्रीति सिन्हा, नवंबर 2009, पृ. 22) यह व्याख्या पूर्ववर्ती व्याख्याओं से निर्मित

कबीर की छवि को पलट देने वाली है। इसके बाद वे कबीर के आलोचकों की आलोचना करती हुई लिखती हैं कि "यदि यह मान लें कि कबीर का मन्तव्य उस विशिष्ट दार्शनिक सत्य को उद्घाटित करना है तो उनके द्वारा अपनाया गया सती का यह 'रूप-विधान' निन्दनीय है और यदि नहीं है तो हिन्दी आलोचना के ऐसे प्रयास निंदनीय हैं, जो खींचतान कर उसे दर्शन के ऐसे आयामों तक ले जाते हैं।" (अनुराधा, सती प्रथा, भक्ति-काव्य और हिंदी मानसिकता, फिलहाल 21-22, सम्पादक- प्रीति सिन्हा, नवंबर 2007, पृ. 23)

दलित विमर्श आधारित आलोचना ने कबीर को अपना कवि घोषित कर उनके नए दलित-विमर्शपरक अर्थ तलाशे। इस दृष्टि से डॉ. धर्मवीर की कबीर सम्बन्धी कई पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। कबीर और उनके आलोचक तथा इसी कड़ी में आई दो अन्य पुस्तकों में उन्होंने हिन्दी के पूर्ववर्ती आलोचकों की कबीर सम्बन्धी मूल्यांकन की सीमाओं का बखूबी उद्घाटन किया है। धर्मवीर मानते हैं, "मेरी खोज है कि ब्राह्मणों ने और ब्राह्मणों के शिष्यत्व में ब्राह्मणेतर द्विज आलोचकों ने कबीर को उनकी दलित जुलाहे जाति से और कबीरपन्थ को काटकर अपने वैदिक घर के बाहर पिंजड़े में सगुण का रामनाम जपने वाला तोताराम बना दिया है। यूँ, मेरे द्वारा अब तक के किए गए कबीर के अध्ययन के निम्न तीन परिणाम निकलते हैं –

यह नहीं माना जा सकता कि कबीर को लेकर ब्राह्मणों के चिन्तन में कोई सुधार या बदलाव सम्भव है, क्योंकि उनकी दृष्टि पिछले तीन हजार सालों से पूरी, परिपक्व और एक-सी है।

ब्राह्मणेतर द्विज आलोचक ब्राह्मणों के शिष्यत्व से बाहर आ सकते हैं। वे अपनी बौद्ध, जैन और सिक्ख परम्पराओं से जान-पहचान बढ़ाएँ तो उनकी स्वतन्त्र पहचान बन सकती है।

विदेशी विद्वान कबीर को सामाजिक सन्दर्भ देने के अपने शोधकार्य में जुटे हुए ही हैं। (डॉ. धर्मवीर, कबीर के कुछ और आलोचक, वाणी प्रकाशन, 2009, पृ. 8)

कबीर सम्बन्धी समूहगत आलोचना का विकास जाति के प्रश्न पर कबीर जैसी पुस्तकों के रूप में देखा जा सकता है। यह पुस्तक कबीर के जुलाहा एवं मुसलमान होने के तथ्य को आधार बनाकर उन्हें बहुसंख्यक पिछड़ी जाति का घोषित करती है एवं उनके वर्चस्वकामी विमर्श के लिए इस्तेमाल का प्रतिवाद करती है।

निष्कर्ष

इस तरह हम कह सकते हैं कि हिन्दी आलोचना में कबीर-काव्य का कई प्रतिमानों के आधार पर विश्लेषण किया गया है। कबीर के महत्त्व की शुक्ल जी से शुरू हुई पहचान द्विवेदी तक आकर स्पष्ट हो गई। शुक्ल की नकारात्मकता और श्यामसुन्दर दास के अनिश्चय को द्विवेदी जी के विश्लेषणों ने समाप्त कर कबीर के स्वीकार का दौर आरम्भ किया। प्रगतिशील आलोचना ने इन आलोचकों द्वारा स्थापित किए जा रहे कबीर के भक्त रूप को किनारे रखा और सामन्ती-पुरोहिती व्यवस्था की आलोचना को आगे बढ़ाया। उन्होंने जनता के शोषण के खिलाफ आवाज उठाने वाले के रूप में कबीर को रेखांकित करते हुए भक्तिकाल के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया। दलित विमर्श ने कबीर को अपना मार्गदर्शक माना और उनके कविता की निम्नवर्गीय समाज के आक्रोश को स्वर देने वाली कविता के रूप में उनकी रचनाओं की व्याख्या की। स्त्रीवादी आलोचना ने कबीर की पितृसत्तात्मक चेतना की सीमा को रेखांकित किया। इस तरह हिन्दी आलोचना-संवाद की प्रक्रिया के जरिए कबीर के विभिन्न रूपों को तथा उनकी कविता के विविध पहलुओं को रेखांकित करने में सफल रही है। आगे भी इस विकास-यात्रा के चलते रहने की पूरी सम्भावना है।

4

भारतेन्दु-युग

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के प्रथम चरण को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा प्रदान की गई है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। भारतेन्दु का व्यकितत्व प्रभावशाली था, वे सम्पादक और संगठनकर्ता थे, वे साहित्यकारों के नेता और समाज को दिशा देने वाले सुधारवादी विचारक थे, उनके आस-पास तरुण और उत्साही साहित्यकारों की पूरी जमात तैयार हुई, अतः इस युग को भारतेन्दु.युग की संज्ञा देना उचित है। डाण् लक्ष्मीसागर वार्ष्णे, ने लिखा है कि 'प्राचीन से नवीन के संक्रमण काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतवासियों की नवोदित आकांक्षाओं और राष्ट्रीयता के प्रतीक थे, वे भारतीय नवोत्थान के अग्रदूत थे। जय भारत जय भारती जिस समय खड़ी बोली गद्य अपने प्रारम्भिक रूप में थी। उस समय हिन्दी के सौभाग्य से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की आपस में विरोधी शैलियों में समन्वय स्थापित किया और मध्यम मार्ग अपनाया।

इस काल में हिन्दी के प्रचार में जिन पत्र-पत्रिकाओं ने विशेष योग दियाए उनमें उदन्त मार्तण्ड, कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन अग्रणी हैं। इस समय हिन्दी गद्य की सर्वांगीण प्रगति हुई और उसमें उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, जीवनी आदि विधाओं में अनूदित तथा मौलिक रचनाएं लिखी गयीं।

भारतेन्दु मण्डल

बहुमुखी प्रतिभा के धनी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रभूत साहित्य रचा एवं अनेक साहित्यकारों को अपनी प्रतिभा से प्रभावित एवं प्रेरित किया। इन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी एवं रायकृष्णदास प्रमुख हैं। इन्होंने हिन्दी.साहित्य को समृद्ध बनाया। यही भारतेन्दु का समकालीन एवं सहयोगी साहित्यकार मण्डल भारतेन्दु मण्डल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी साहित्य में यह समय भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारतेन्दुकालीन कथा

कथा साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास एवं कहानी को ग्रहण किया जाता है। भारतेन्दु काल में इन दोनों का लेखन प्रारम्भ हुआ, जिनके पृथक-पृथक विवेचन निम्नलिखित हैं।

उपन्यास

भारतेन्दु काल में हिन्दी की उप विधा का विकास हुआ। पण्डित बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान इस समय का उपदेश-प्रधान आदर्शवादी उपन्यास है। इसमें परिपूर्ण श्यामा-स्वप्न उपन्यास काव्य-सौन्दर्य से भरा हुआ है। अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रहमचारी, और राधाकृष्णदास का शनि:सहाय हिन्दू इस काल के अन्य उपन्यास हैं।

कहानी

कहानी का क्रमबद्ध विकास भारतेन्दु युग से होता है। इस युग में केवल बंगला तथा अंग्रेजी कहानियों के अनुवाद हुए। मौलिक रूप में जो कहानियां लिखी गईं, उन पर इनका प्रभाव दिखाई देता है। भारतेन्दु जी ने एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न नामक कहानी लिखी, जिसे अधिकांश विद्वान हिन्दी की प्रथम साहित्यिक तथा मौलिक कहानी मानते हैं। सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ-साथ हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियां प्रकाश में आयीं। सरस्वती के प्रारम्भिक कहानी लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, पार्वतीनन्दन, बंग महिला, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. भगवानदास आदि प्रमुख हैं।

इस युग में मौलिक तथा अनूदित दोनों ही प्रकार के नाटक लिखे गये। भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में चन्द्रावली, नीलदेवीएथे, भारत-दुर्दशा प्रमुख हैं। अनूदित नाटकों में कुछ बंगला से और कुछ संस्कृत से अनूदित हैं। इस काल में प्रतापनारायण मिश्र ने गौ संकट, कलि प्रभाव, ज्वारी.ख्वारी, हमीर.हठ राधाकृष्णदास ने महारानी पद्मावती, महाराणा पताप, दुखिनी बाला, बाबू गोकुलचन्द ने बूढ़े मुंह मुहासे, लोग चले तमाशे, आदि नाटक लिखे। श्रीनिवास दास, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास आदि इस काल के अन्य नाटककार हैं।

निबन्ध

हिन्दी में निबन्ध साहित्य का प्रारम्भ भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओं से होता है। प्राय: तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में उनके सम्पादक उस समय की सांस्कृतिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर लेख लिखा करते थे। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम कविवचन सुधा तथा हरिश्चन्द्र मैगजीन में साहित्यिक ढंग से निबन्ध लिखे। इसके बाद पं प्रतापनारायण मिश्र तथा पं बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन ने क्रमश: हिन्दी प्रदीप, ब्राहमण तथा आनन्द कादम्बिनी नामक पत्रिकाओं में निबन्ध लिखे, जिन्हें साहित्यिक कोटि के निबन्ध कहा जाता है। इसी समय पंण्बालकृष्ण भट्ट ने विनोदपूर्ण तथा गम्भीर शैली में विवेचनात्मक, आलोचनात्मक तथा भावात्मक निबंध लिखे। बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन,अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी इस युग के अन्य प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हैं।

आलोचना

भारतेन्दु युग में गद्य के अन्य अंगों के साथ-साथ आलोचना विधा भी नया रूप धारण कर आगे बढ़ी। उसके स्वरूप और प्रकार में नये तत्त्वों का समावेश हुआ। साहित्यिक विवेचना में बौद्धिकता की प्रधानता हो गयी। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक आदि के साथ-साथ उनकी आलोचनाएं भी लिखी जाने लगीं। इस नवीन आलोचना के विकास में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख हाथ रहा। इस समीक्षा के प्रवर्त्तकों में भारतेन्दु, प्रेमघन,बालकृष्ण भट्ट, श्री निवास दासए बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि प्रसिद्ध हैं।

आनन्द कादम्बिनी नामक पत्रिका के द्वारा प्रेमघन ने पुस्तकों की विस्तृत तथा गम्भीर आलोचना प्रारम्भ की। इन्होंने श्रीनिवास दास के संयोगिता स्वयंवर

नाटक की बड़ी विशद् और कड़ी आलोचना लिखकर प्रकशित की।

भारतेन्दु – युग आधुनिक हिन्दी – गद्य साहित्य के बहुमुखी विकास का युग है। भारतेन्दु – युग में अर्थात् उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में पूरे देश में 'सांस्कृति – जागरण' एवं 'राष्ट्रीय – जागरण' की लहर दौड़ चुकी थी और सामंतीय सामाजिक ढांचा टूट चुका था। अंग्रेजी – शिक्षा के विकास की गति चाहे जितनी भी धीमी रही हो और उसके उद्देश्य चाहे जितने भी सीमित रहे हों, उसका व्यापक प्रभाव सम्पूर्ण देश के शिक्षित समाज पर पड़ रहा था, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश में एक सशक्त मध्यमवर्ग तैयार हुआ, जो अत्यधिक संवेदनशील था। देश में यह वर्ग व्यापक 'राष्ट्रीय' एवं 'सामाजिक' हितों की दृष्टि से भी सोचने लगा तथा अनुभव करने लगा कि हमारा देश अत्यन्त 'हीनावस्था' में है तथा जीवन के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक इत्यादि सभी क्षेत्रों में परिवर्तन एवं सुधार की आवश्यकता है।

भारतेन्दु जी इसी प्रगतिशील चेतना के प्रतिनिधि थे। भारतेन्दु जी ने अपने हिन्दी – गद्य – साहित्य के माध्यम से ठीक समय पर उचित नेतृत्व प्रदान किया और अपने निबन्धों, नाटकों तथा भाषणों में 'राष्ट्रीय – जागरण' का संदेश दिया। जो संदर्भित समय की एक मूल आवश्यकता थी। जिससे देश में 'राष्ट्रीय भावना' का अद्घोष हुआ तथा देशवासी अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर 'राष्ट्रीयजागरण' के प्रति उत्तरदायी बनें, तथा इनके सहयोगी कवियों ने उनके द्वारा 'प्रशस्त – पथ' पर चल कर 'आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य, की जो सेवा अपने आलेखों, कृतियों, रचनाओं, इत्यादि के द्वारा की है, वह अविस्मरणीय है।

प्रस्तावना

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य के विकासक्रम में भारतेन्दु – युग का महत्व और मूल्य असाधारण है। इसी युग में हिन्दी – प्रदेश में आधुनिक जीवन – चेतना का उन्मेष हुआ। मध्यमवर्गीय सामाजिक चेतना में साहित्य रचना का जो स्वरूप उभरा, उसमें कहीं – कहीं सामंतीय संस्कारों का अवशेष लक्षित भी अवश्य होता है, किन्तु वह टूटने के क्रम में है। यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश – शासनकाल – व्यवस्था की दृढ़ता के बावजूद उसे प्रति विरोध का भाव आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य के 'भारतेन्दु – काल' के प्रत्येक साहित्यकार के मन में विद्यमान है। देश और समाज के हित की भावना से सभी आच्छादित हैं। साहित्य – सर्जन की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य

की प्राय: सभी विधाओं का सूत्रपात इसी काल में हुआ। विशेषत: हिन्दी - साहित्य की निबन्ध और नाटक मुख्यत: इन दोनों ही विधाओं में लेखकों ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की तथा उपन्यासों के लेखन में भी इसी युग में सफलता के स्वर ध्वनित होते हैं।

अत: सब कुछ मिला - जुला कर भारतेन्दु - काल का साहित्य, व्यापक जागरण का संदेश लेकर आया और हिन्दी साहित्य में भाषा के स्वरूप में अभूतपूर्व प्रगति हुई। इस युग में न केवल आधुनिक हिन्दी - गद्य का स्वरूप स्थिर हुआ, वरन् इसके शुद्ध साहित्योपयोगी और व्यवहारोपयोगी रूपों की पूर्ण प्रतिष्ठा भी इसी युग में हुई। इस प्रकार 'भाषा' और 'साहित्य' दोनों आपस में जुड़ गये तथा पत्र - पत्रिकाओं के प्रकाशन और प्रचार की गति में भी तीव्र वृद्धि हुई। अत: किसी भी साहित्यिक - भाषा के इतिहास में इतनी अल्प अवधि में होने वाली संदर्भित काल की प्रगति, हिन्दी गद्य - साहित्य के इतिहास में हमेशा गौरवान्वित ही समझी जाएगी।

आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य में "आधुनिक - काल"

हिन्दी गद्य - साहित्य के इतिहास में काल का सीमांकन सबसे जटिल समस्या है। किसी काल - खण्ड का आरम्भ किस समय से प्रारम्भ होता है, इसे वैज्ञानिक सत्य के आधार पर ही नहीं बतलाया जा सकता है वरन् एक कालखण्ड, दूसरे कालखण्ड से बदलाव के कारण अलग - अलग होता है। बदलाव की यह प्रक्रिया तो एक अरसे से चली आ रही है, परन्तु नये कालखण्ड का निर्धारण तब होता है जब बदलाव के चित्र हमारी आर्थिक - सांस्कृतिक, स्थितियों, काल - रूपों, तथा भाषा में स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं। इसलिए साहित्येतिहास के लेखन में जो भी काल - निर्धारण किया जाएगा, वह वस्तुत: लचीला ही माना जाएगा।

'हिन्दी गद्य - साहित्य के इतिहास' में 'आधुनिक - काल' के विकास का क्रम एक शताब्दी पहले से ही प्रारम्भ हो गया था तथा बदलाव के स्पष्ट चिन्ह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में दिखाई देने लगे थे। संयोगवश हिन्दी - साहित्य के आधुनिकतम् जीवन बोध के प्रर्वतक माने जाने वाले इतिहासकार 'भारतेन्दु - हरिशचन्द्र' जी का जन्म उन्नीसवीं सदी के ठीक मध्य में सन् 1850 में हुआ। अत: इतिहासकारों ने इस वर्ष को ही आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य के इतिहास में आरम्भ वर्ष मान लिया। किन्तु इतिहास की गतिमानता एवं बदलाव

में यह वर्ष स्वयं किसी तरह की भूमिका अदा नहीं करता। इतिहास के काल – विभाजन की रेखा कम से कम दो विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्टत: अलग करने वाली तथा इस अलगाव के लिए स्वयं भी बहुत कुछ उत्तरदायी होना चाहिए। यदि सन् 1857 को आधुनिक काल का प्रारम्भिक काल बिन्दु मान लिया जाये, तो उपर्युक्त दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं।

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में "आधुनिक – काल" का उपविभाजन –

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने 'आधुनिक – काल' का जो उप – विभाजन किया है। वह एकसूत्रता के अभाव में विसंगतिपूर्ण हो गया है। उन्होंने आधुनिक काल को दो भागों में बांटा है –

1. गद्य खण्ड
2. काव्य खण्ड

उपर्युक्त ये दोनों खण्ड एक – दूसरे से इतने पृथक हैं कि इनमें एकरूपता तथा एकतानता नहीं पायी जाती है। दोनों खण्डों को दो – दो प्रकरणों में बांटा गया है। गद्य – खण्ड के पहले प्रकरण में ब्रजभाषा – गद्य और खड़ी बोली – गद्य का विवेचन है। दूसरे प्रकरण में गद्य – साहित्य का आर्विभाव विश्लेषित है तथा इसे फिर से तीन उत्थानों में विभक्त किया गया है – प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान और तृतीय उत्थान। शुक्ल जी के गद्य – खण्ड और काव्य – खण्ड दोनों ही एक दूसरे से सर्वथा अलग – अलग हैं। एक की प्रवृत्ति का दूसरे की प्रवृत्ति से कोई भी तालमेल नहीं है। ऐसा लगता है कि मानो गद्य – खण्ड में एक प्रवृत्ति क्रियाशील है, तो काव्य – खण्ड में दूसरी प्रवृत्ति क्रियाशील है।

उदाहरणार्थ, काव्य – खण्ड एक – दूसरे से सर्वथा अलग, दूसरे प्रकरण के तृतीय उत्थान (काव्य में जिसे 'छायावाद' के नाम से निरूपित किया गया है) तथा गद्य – खण्ड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान में कोई एकरूपता निरूपित नहीं की जा सकती है। शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों ने प्राय: शुक्ल जी का अनुगमन किया है तथा आधुनिक 'हिन्दी गद्य – साहित्य' में छायावादी – युग सर्वमान्य हो गया है। इसको केन्द्र – बिन्दु मानकर इस काल का उपविभाजन करना अधिक सुविधाजनक हो गया। छायावाद काल के पूर्व हिन्दी – साहित्य परिष्कार की दो मंजिलों से गुजर चुका था – पुनर्जागरण – काल और सुधार – काल। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, आदि के कारण जो पुनर्जागरण आया वह ऐतिहासिक तथ्य

हो गया इसका सीधा प्रभाव हिन्दी - साहित्य पर पड़ा। साहित्य अपने नवीन पर्यावरण से जुड़ कर मध्यकालीन प्रवृत्तियों से पृथक हो गया।

अतः आधुनिक - काल की पहली मंजिल को 'पुनर्जागरण - काल' कहना उचित है। दूसरी मंजिल पर साहित्यकार अपने कृत्य, रूपाकार, और भाषा के सुधार परिष्कार में संलग्न दिखायी पड़ते हैं। अतः इसे '' सुधार - काल'' की संज्ञा भी दी जानी चाहिए।

अतः संक्षेप में, आधुनिक काल के उप - विभाजन का प्रारूप निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है: -

1. पुनर्जागरण काल (भारतेन्दु काल) 1857-1900 ई।
2. जागरण - सुधार - 'काल द्विवेदी काल' 1900-1918 ई।
3. छायावाद - काल
   1918-1938 ई।
4. छायावादोत्तर - काल
   (क) - प्रगति - प्रयोग - काल 1938-1953
   (ख) - नवलेखन - काल

1953 से वर्तमान तक

किसी भी साहित्यक - काल में कोई भी बदलाव यूँ ही नहीं आता, बल्कि कुछ कारण होते हैं। दो संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन परिवर्तन के लिए उतना कारगर नहीं होता, जितने समाज के बुनियादी ढांचे को बदलने वाले आर्थिक कारण प्रभावशाली होते हैं तथा मुख्य कारण आर्थिक होता है, जो सांस्कृतिक कारण गौण होते हैं, पर इन दो नों को लाने का दायित्व जाने - अनजाने अग्रेजों पर ही रहा है। अतः आधुनिक काल का परिवर्तनमान प्रक्रिया को समझने के लिए शोधार्थी द्वारा इनका विवेचन करना अति आवश्यक है।

आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य में "भारतेन्दु - युग"

भारतेन्दु - युग अथवा पुनर्जागरण - काल का उदय आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य में हिन्दी - कविता के लिए नवीन - जागरण के संदेशवाहक - युग के रूप में हुआ था किन्तु इसके सीमाँ कन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) के रचनाकाल को दृष्टि में रख कर सम्वत् 1925 से 1950 की अवधि को 'नयी - धारा'

अथवा 'प्रथम – उत्थान' की संज्ञा दी है, और इस काल को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों के कृतियों से समृद्ध माना गया है, किन्तु उनके द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ लेखकों का वैमत्य है। मिश्रबन्धुओं ने 1926 से 1945 वि. सम्वत् तक, डॉ. रामकुमार वर्मा ने 1927 से 1957 वि . सम्वत् तक, डॉ. केसरी नारायण शुक्ल ने 1922 से 1957 वि. सम्वत् तक और डॉ. रामविलास शर्मा ने 1925 से 1957 वि . सम्वत् तक 'भारतेन्दु युग' की ब्याप्ति मानी है।

उल्लेखनीय यह है, कि भारतेन्दु द्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका 'कविवचनसुधा' का प्रकाशन 1868 ई . में प्रारम्भ हुआ था। अतः भारतेन्दु युग का उदय 1968 ई . (1925 वि.सम्वत्) से मानना उचित है, तथा इसी तर्क का अनुसरण करते हुए 'सरस्वती' नामक पत्रिका का प्रकाशन – वर्ष 1900 ई को भारतेन्दु – युग की समाप्ति का सूचक भी माना जा सकता है। यह ठीक ही है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देहावसान के साथ ही भारतेन्दु – युग की समाप्ति न मान कर उनके समकालीन कवियों के द्वारा बाद में रचित – कृतियों को ध्यान में रखते हुए इस काल की व्याप्ति 1900 ई . तक स्वीकार की गयी, क्यों कि इस समय तक हिन्दी साहित्य–क्षेत्र में अने कों नवीन प्रवृत्तियो का उदय होने लगा था, किन्तु यह जिज्ञासा प्रासंगिक होगी कि रीतिकाल के समापन से ले कर भारतेन्दु – युग का पूर्वकाल (1843 से 1867 ई .) तक की रचनाओं का अनुशीलन किस संदर्भ में किया जाना चाहिए ?

वस्तुतः इतिहास का कोई भी काल सहसा ही समाप्त नहीं हो सकता है और प्रायः अगले एक – दो दशक तक उसकी रचना, प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में व्यक्त होती रहती हैं। इसी भाँति किसी नये युग का शुभारम्भ भी सहसा नहीं होता है, उसके स्वरूप – निर्माण की प्रक्रिया के बीज, दस – बीस साल तक के पहले साहित्य में विद्यमान रहते हैं। 1843 से 1867 ई . तक का कृतित्त्व न तो पूर्णतः रीतिकाल के प्रभावक्षेत्र में आता है और न ही इसमें भारतेन्दु – युग की पुनर्जागरण – मूलक प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं। अतः इसका अनुशीलन "भारतेन्दु – युग" की पृष्ठभूमि के रूप में किया जाना चाहिए।

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में 'भारतेन्दु' पूर्व साहित्यिक 'काव्यधारा'

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती कवियों की ब्रजभाषा – रचनाओं को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: –

1. भक्ति काव्य,
2. शृंगार रस का काव्य,
3. रीति - निरूपण काव्य

भक्तिकाव्य के रचियताओं में रीवा - नरेश रधुराजसिंह (1823 से 1879) का प्रमुख स्थान है उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों शैलियों में लगभग अठ्ठाइस कृतियों की रचना की थी। जिनमें कुछ 'भारतेन्दु - युग' की परिधी में आती हैं।

उदाहरणार्थ,'सुंदर शतक', 'पत्रिका', 'रूक्मिणी - परिणय, ' 'आनन्दाम्बुनिधि, ' और 'श्रीमद्भागवत महात्म्य, ' भारतेन्दु -पूर्व काल की कृतियाँ हैं। जबकि 'रामस्वयं वर, 'भक्तिविलास,' 'रामरसिकावली' ' आदि की रचना सन् 1869 अथवा इसके बाद की हैं। वे मुख्यत: 'रामभक्त' थे, किन्तु कृष्ण लीलाओं का गान भी उन्होंने पूर्ण मनोयोगपूर्वक किया है। भक्ति के साथ शृंगारिकता भी उनके काव्य में विद्यमान है। सूर और तुलसी जैसी भक्ति भावना, केशव जैसा प्रबन्ध - कौशल,और ब्रजभाषा की रमणीयता उनके कृतित्त्व की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। कृष्णभक्त कवियों में लखनऊ के वैश्य बंधुओं 'साह कुंदनलाल' तथा 'साह फुंदनलाल' का उल्लेख अपेक्षित है जिन्होंने वृंदावन में निवास कर क्रमश: 'ललित किशोरी' तथा 'ललित माधुरी' नामों से माधुर्य भक्तिपरक पदों की रचना की। इनमें ललित किशोरी (रचनाकाल - 1856 से 1873) का स्थान प्रमुख है। उनकी काव्यशैली भी अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़, मधुर व मार्मिक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र 'गिरिधरदास' (1833 से 1860) द्वारा लिखित 'राधास्तोत्र, ' 'गोपालस्तोत्र, ' 'जरासन्धवध महाकाव्य' और 'बलराम - कथामृत' भी 'कृष्ण - कथा' पर आधारित रचनाएँ हैं। यूँ तो उन्हों ने 'रामकथामृत' की भी रचना की है। भाषा - परिष्कार और अलंकार - नियोजन पर उनका विशेष ध्यान रहा है।

आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य में "भारतेन्दु - युग" का नवीन - परिवेश

आलोच्य-युग में जनचेतना पुनर्जागरण की भावना से अनुप्राणित थी फलस्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्रों में न केवल अतिरिक्त सक्रियता थी, अपितु इन सब में गहन अन्त: सम्बन्ध विद्यमान था। भारतेन्दु - युगीन कवि - कर्त्तव्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसकी परणति

विषय –चयन में व्यापकता और विविधता के रूप में हुई। श्रृंगारिक रसिकता, अलंकार –मोह, रीति – निरूपण, प्रकृति उद्दीपनात्मक चित्रण, प्रभृति रीतिकालीन प्रवृत्तियों का महत्व क्रमशः कम होता गया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जनता को उद्बोधन प्रदान करने के उद्देश्य से 'जातीय – संगीत' अर्थात् 'लोक – गीत' की शैली पर सामाजिक कविताओं की रचनाओं पर बल दिया। मातृ – भूमि प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, गौरक्षा, बालविवाह – निषेध, शिक्षा – प्रसार का महत्व, मद्य – निषेध, भ्रूण हत्या की निंदा, आदि विषयों को कविगण इस युग में अधिकाधिक अपनाने लगे थे। 'राष्ट्रीय – भावना' का उदय भी हिन्दी साहित्य के इस काल की अनन्य विशेषता है।

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में "भारतेन्दु – युगीन" रचनाओं में 'देशभक्ति'

भारतीय वीरों में प्रताप, छत्रसाल, शिवाजी आदि ने क्षेत्र विशेष (चित्तौड़, बुन्देलखण्ड, और महाराष्ट्र) की रक्षा के लिए जिस तत्परता और दृढ़ता का परिचय दिया था, उसका स्तवन करने वाले भूषण प्रभृति कवि क्षेत्रीय भावना अर्थात संकीर्ण राष्ट्रीयता से ऊपर नहीं उठ सके थे। 'भारतेन्दु – युगीन' कवियों ने भारतीय इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों की स्मृति तो अनेक बार दिलायी, पर उनकी 'राष्ट्रीय–भावना' केवल यहीं तक सीमित नहीं रही। अंग्रेजों की विचारधारा और उनकी देशभक्तिपूर्ण कविताओं से भी उन्होंने यथेष्ट प्रेरणा ली, जिसका फल यह हुआ कि क्षेत्रीयता से ऊपर उठकर वे सम्पूर्ण राष्ट्र की नब्ज को टटोलने लगे। 'हमारो उत्तम भारत देश' (राधाचरण गोस्वामी) और 'धन्य भूमि भारत सब उन्नतिन की उपजाबनि' (प्रेमघन) आदि काव्य पंक्तियाँ इसी तथ्य को प्रकट करती हैं।

' देशभक्ति' की भावना बाद में मैथलीशरणगुप्त कृत 'भारत – भारती', में देखने को मिलती है। उसकी प्रेरणा – भूमि भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि की कविताएँ ही हैं। भारतेन्दु की 'विजयिनी विजय वैजयन्ती', प्रेमघन की 'आनन्द अरूणोदय', प्रतापनारायण मिश्र की 'महापर्व' और 'नया सम्वत्' तथा राधाकृष्णदास की 'भारत बारहमासा 'और 'विनय' शीर्षक कविताएँ 'देशभक्ति' की प्रेरणा से युक्त हैं। इस संदर्भ में उन्हों ने अपने प्रतिपाद्य को कहीं व्यंग्योक्तियों के माध्यम से भी प्रकट किया तो कहीं, अतीत

के प्रेरणादायी प्रसंगों की चर्चा द्वारा नवयुवकों को पुनर्जागरण का मन्त्र दिया है। अंग्रेजों की 'शोषण – नीति' का भारतेन्दु जी द्वारा प्रत्यक्ष उल्लेख प्रस्तुत निम्न पंक्ति में इस भावना की चरम परिणति है –

भीतर – भीतर सब रस चूसै, हँसि – हँसि के तन – मन – धन मूसै।
जहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन ! नहीं अंगरेज।।
(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में "भारतेन्दु – युगीन" रचनाओं में 'सामाजिक – चेतना'

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में 'भारतेन्दु – युग' की मुख्य विशेषता यह रही है कि कवियों ने सामाजिक जीवन की उपेक्षा न कर जनता की समस्याओं के निरूपण की ओर पहली बार व्यापक रूप में ध्यान दिया। इससे पूर्व रीतिकाल में राजाओं और सामन्तों के आश्रय में लिखित दरबारी काव्य में सामाजिक परिवेष के चित्रण की ओर नगण्य रूप में ध्यान दिया। इसलिए भारतेन्दु – युग में नारी – शिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, अस्पृश्यता – छुआछूत आदि को लेकर जो सहानुभूतिपूर्ण कविताएँ लिखी गयीं। उनके प्रतिपाद्य की नवीनता ने स:हृदय सामाजिक – समुदाय को विशेष आकृष्ट किया। उपरोक्त संदर्भित इन समस्याओं को रूपायित करने के लिए कवियों ने एक – दूसरे के साथ और मध्यमवर्गीय सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया, तो दूसरी ओर रूढ़िवादिता का विरोध कर सामाजिक – विकास – चेतना की आकांक्षाओं की भी अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति की। किन्तु फिर भी आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि के प्रभाव से इस युग में जो नवीन सामाजिक – चेतना उभरने लगी थी और भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, आदि की रचनाओं में जिस सुधारवादी मनोवृत्ति की प्रमुखता रही, उसके प्रति सभी कवियों का दृष्टिकोण उदारता – समन्वित नहीं था।

'भारत – धर्म' कविता में अम्बिकादत्त व्यास द्वारा वर्णाश्रम – धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुमोदन और रामचरण गोस्वामी द्वारा विभिन्न कविताओं में प्राचीन शास्त्र – नीतियों का समर्थन एवं विधवा – विवाह का विरोध ऐसे ही उदाहरण हैं जिनमें भारतेन्दु-युगीन समस्याओं की जानकारी ऐसे कवियों को भी पूरी तरह थी, किन्तु उनके सामाधान के लिए वे परम्परागत धर्म शास्त्र को ही आधार

बनाना चाहते थे। इसके विपरीत भारतेन्दु जी ने 'भारत–दुर्दशा' नाटक में वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता का विरोध निम्नलिखित शब्दों में किया –

" बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म"

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

' मन की लहर' में प्रताप नारायण मिश्र की दृष्टि बाल – विधवाओं की करूण दशा की ओर गयी जिसका उदाहरण निम्नवत है –

"कौ न करेजो नहि कसकत सुनि बिपति बालबिधवन की"

(प्रतापनारायण मिश्र)

भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने की कामना से संदर्भित इस युग के कवियों ने स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने पर भी बल दिया। जिसका उदाहरण भारतेन्दु जी ने 'प्रबोधिनी' नामक कविता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने का प्रत्यक्ष प्रमाण कवि की निम्न रचना में मिलता है –

" जीवन बिदेस की वस्तु लै तो बिन कछु नहि करि सकत"

प्रेमघन की 'आर्याभिनन्दन', प्रतापनारायण मिश्र की 'होली है' तथा अम्बिकादत्त व्यास की 'भारतधर्म' शीर्षक नामक रचनाओं में भी विदेशी वस्त्रों और अन्य वस्तुओं के आयात को भारत की आर्थिक दुर्गति का मूल कारण माना गया है। यद्यपि प्रेमघन ने 'स्वागत' शीर्षक कविता में, अम्बिकादत्त व्यास के 'जटिल वणिक्' में और राधाकृष्णदास ने 'जुबिली' में बिजली, यातायात के सुगम साधनों, सिंचाई की सुविधाओं में, शिक्षा – प्रसार आदि का अलभ्य लाभ प्रदान करने के लिए ब्रिटिश शासन की भी प्रशंसा की है, परन्तु इसके साथ भी वह यह नहीं भूले कि सामान्य जनता और किसानों की दरिद्रता घटने के स्थान पर बढ़ती ही गयी, अर्थात् इसीलिए पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में देश के सांस्कृतिक पुनःत्थान की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी उन्होंने शासक वर्ग द्वारा देश के आर्थिक शोषण का घोर विरोध अपनी रचनाओं, कृतियों के माध्यम से किया। प्रतापनारायण मिश्र की 'एक गजल' रचना में 'भारत – दुर्दशा' पर गहरी चिंता निम्नवत प्रकट की गयी है –

"अभी देखिए क्या दशा देश की हो, बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे !"(प्रतापनारायण मिश्र)

कहाँ तो प्राचीन भारत की भौतिक और सांस्कृतिक समृद्धि और कहाँ अकाल, महँगाई, महामारी तथा करों के बोझ से त्रस्त जन – जीवन ! परिवार,

समाज और देश की क्रमशः बढ़ती हुई हीन भावना के चित्रण में भी रचनाकारों की वाणी अनायास करूणा से भीग उठी। अतः भारतेन्दु जी ने और प्रतापनारायण मिश्र जी ने समाज की सम्पूर्ण पीड़ा का यथार्थ वर्णन निम्नवत् किया –

" रोवहू सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत – दुर्दशा न देखी जाई।। (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)
" तबहि लख्यो जहं रह्यो एक दिन कंचन बसरत।
तहं चौथाई जन रूखी रोटिहुं को तरसत।।
जहं आमन की गुठली अरू बिरछन की छालैं।
ज्वार चून महं मेलि लोग परिवारहिं पालैं।।
नौन तेल लकरी घासहु पर टिकस लगे जहं।
चना चिरौंजी मोल मिलैं जहं दीन प्रजा कहं।।" (प्रतापनारायण मिश्र)

अभिप्राय यह है कि 'सामाजिक – परिवेश' के चित्रण में कुछ कवियों की दृष्टि सुधारवादी थी, तो कुछ कवियों की दृष्टि यथास्थितिवादी भी थी। जिनका उदाहरण प्रस्तुत उपरोक्त वर्णन में निहित है।

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में "भारतेन्दु – युगीन" लेखन में 'भक्ति – भावना'

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में भारतेन्दु – युग में परम्परागत धार्मिक और भक्ति – भावना को अपेक्षाकृत गौण स्थान प्राप्त हुआ है। फिर भी इस काल के भक्तिकाव्य को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है –

1. निर्गुण भक्ति काव्य,
2. वैष्णव भक्ति काव्य,
3. स्वदेशानुराग – समन्वित ईश्वर – भक्ति।

उक्त प्रथम दो में किसी उल्लेखनीय नवीनता का परिचय न हुआ बल्कि मध्ययुगीन परिपाटी का अनुसरण मात्र ही किया गया, किन्तु भक्ति और देश – प्रेम को एक ही समकोण पर प्रतिष्ठित करना, किसी सीमा तक संवेदन की 'मौलिकता' का परिचायक है। निर्गुण – भक्ति इस काल में मुख्य साधना – दिशा नहीं थी, फिर भी कुछ कवियों ने परम्परा के प्रभावस्वरूप संसार की नश्वरता, माया – मोह, की व्यर्थता, विषयाशक्ति की निंदा आदि विषयों पर तो उपदेशात्मक ढंग से विचार व्यक्त किये हैं।

किन्तु ब्रह्म - चिंतन और हठयोग जैसे विषयों पर काव्य - रचना उन्हें अभीष्ट नहीं करती। इसके विपरीत वैष्णव - भक्ति के अंतर्गत भगवान श्री - राम, भगवान श्री-कृष्ण और अन्य देवी-देवताओं का वर्णन अनेक कवियों द्वारा किया गया।

उदाहरणार्थ, बिहार के अल्पज्ञात कवि हरिनाथ पाठक (1843-1904) की कृति "ललित रामायण"(1893), वहीं बिहार के ही दूसरे कवि अक्षय कुमार द्वारा प्रणीत "रसिकविलास रामायण"(1886) और बाबू तो ताराम (1848-1902) की "राम - रामायण" भगवान श्री राम - भक्ति के संदर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। हरिनाथ पाठक की रचना से राम - काव्य की सुपरिचित श्रृंगार-पद्धति के अनुसरण में शोध फलस्वरूप निम्नलिखित पद्य दृष्टव्य है -

मुरूगवा बोले बिपिन में भोरे।
सुखद सेज सोवत रघुनन्दन, जनक लली संग कोरे।
प्रीतम अंक लगी महाराणी शापति सुनि खग सो रे॥
बन में अवरन जागे खग सब, शब्द करत झकझोरे।
जन हरिनाथ समय सुखदायक, नहि भावत मन मोरे॥

राम - काव्य की तुलना में कृष्णभक्ति - काव्य की रचनाओं का अधिक परिमाण इसी युग में हुआ। इस दिशा में सबसे अधिक योगदान भारतेन्दु जी का है। भारतेन्दु जी राधा - कृष्ण के भी अनन्य भक्त थे। जिसका जीवन्त उदाहरण निम्नलिखित पंक्ति में दिया जा रहा है -

" सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के"

उक्त पंक्ति की भावना के अनु कूल संख्या और विनय भाव की भक्ति का दर्शन मिलता है। वात्सल्य भक्ति के भी कुछ पद उन्होंने लिखे हैं। अन्य धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारतापूर्ण था। इसीलिए उन्हों ने निम्न पंक्ति में धार्मि क मतभेदियों की भर्त्सना की है -

" अपुनो मत लै लै सब झगरत ज्यों भठिहारे"

इसी प्रकार उन्होने अपनी भक्ति - भावना उर्दू - पद - शैली में भी निम्नवत व्यक्त की -

ढूँढता फिरा मैं इस दुनिया में पश्चिम से ले पूरब तक।
कहीं न पायी मेरे दिलदार प्रेम की तेरे झलक।
मसजिद मन्दिर गिरजों में देखा मतवालों का जो दौर।
अपने-अपने रंग में रंगा दिखाया सब का तौर।

सिवा झूठी बातों व बनावट के न नजर आया कुछ और। (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

आधुनिक हिन्दी - साहित्य में "भारतेन्दु - युगीन" रचनाओं में 'शृंगारिकता की अभिव्यक्ति'

आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य में भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों ने रस को काव्य की आत्मा मान कर अपनी रचनाओं में विविध रसानुभूतियों का भावन किया है, जिनमें शृंगार रस सर्वप्रमुख है। प्रतापनारायण मिश्र के अतिरिक्त प्राय: सभी मुख्य कृति 'शृंगार - वर्णन' की ओर उन्मुख रही हैं। रीतिकालीन कवियों का अनुसरण करते हुए सामान्यत: उन्हों ने कृष्णकथा के संदर्भ में प्रेम और सौंदर्य का वर्णन किया है, किन्तु राधाकृष्णदास की 'राम-जानकी' कविता में मर्यादित-शृंगार और हरिनाथ पाठक की 'श्री ललित रामायण' आदि में 'रामकथा' की रसिकतायुक्त अवधारणा भी मिलती है।शृंगार - वर्णन के लिए इनके सामने चार विकल्प थे -

भक्तिकालीन कृष्णकाव्य की परम्परा में माधुर्यभक्तिपरक शृंगार - चित्रण, रीतिकालीन पद्धति पर नखशिख, षड्ऋतु और नायिकाभेद का वर्णन, उर्दू - कविता से सम्पर्क के फलस्वरूप प्रेम की वेदनात्मक व्यंजना, और अंग्रेजी की प्रेम - कविताओं से प्रभाव - ग्रहण। इनमें से अन्तिम को छोड़ कर शेष तीनों की परिव्याप्ति इस युग में मिलती है, विशेष रूप से भारतेन्दु और प्रेमघन की रचनाओं में प्राय: ये तीनों विद्यमान हैं। भारतेन्दु ने 'प्रेम - सरोवर', 'प्रेम - माधुरी', 'प्रेम - तरंग', 'प्रेम - फुलवारी', आदि में "भक्ति -शृंगार" और "विशुद्ध -शृंगार" दोनों का समावेश किया है। प्रेमघन की 'युगलमंगल - स्तोत्र' तथा 'वर्षा - बिन्दु' भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। सौंदर्य प्रेम और विरह की व्यंजना में कहीं - कहीं ये दोनों ही कवि उर्दू - काव्य - शैली से भी प्रभावित हुए हैं, किन्तु नखशिख और नायिकाभेद पर पारम्परिक शैली में काव्यरचना इन्होंने नहीं की वैसे, भारतेन्दु के प्रेमदशा - वर्णन सम्बन्धी अनेक सवैयों में घनानन्द जैसी सरसता विद्यमान है। जिसका उदाहरण निम्नवत है -

आजु लौं न मिले तो कहा हम तो तू मरे सब भाँति कहावैं।
मेरौ उराहनौ है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं॥
जो हरचन्द भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समैं सब कंठ लगावैं॥

आधुनिक हिन्दी – साहित्य में 'भारतेन्दु – युगीन' रचनाओं में 'प्रकृति – चित्रण'–

प्राकृतिक सौंदर्य का स्वच्छंद वर्णन आधुनिक हिन्दी – साहित्य में 'भारतेन्दु – युगीन' कविता की अंगभूत विशेषता है, किन्तु अधिकतर कवियों ने परम्परा – निर्वाह ही किया है। भारतेन्दु – कृत 'बसंत होली' अम्बिकादत्त व्यास की 'पावस – पचासा', गोविन्द गिल्लाभाई की 'षड्ऋतु' और 'पावस – पयोनिधि' आदि कृतियों में 'वसंत ऋतु' और 'वर्षा काल' का आलम्बनात्मक चित्रण मिलता है। ऋतु सौंदर्य के स्थान पर कवियों ने ऋतु विशेष में नायक – नायिका की मनो दशाओं के वर्णन में अधिक रूचि ली है। सौंदर्यबोध में सहायक स्वतन्त्र प्रकृति – चित्रण का श्रेय किसी स्तर तक ठाकुर जगमोहन सिंह का दिया जा सकता है। भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में गंगा – वर्णन और 'चन्द्रावली' नाटिका में यमुना – वर्णन किया है। किन्तु अलंकार – भार के कारण इनमें उनकी स्वतन्त्र अनुभूति की क्षमता बहुत – कुछ दब सी गयी है। उनकी रचना 'प्रात समीरन', प्रेमघन की 'मयंक – महिमा' और प्रतापनारायण मिश्र की 'प्रेम – पुष्पांजलि' शीर्षक नामक कविताओं में विषय के स्वतन्त्र उपस्थान का यत्किंचित् प्रयास भी हुआ है, तो उसमें कवियों को उतनी सफलता नहीं मिली, क्योंकि प्रकृति को शृंगारिक मनोदशाओं, सामाजिक उद्बोधन, नीति – कथन आदि से सम्बद्ध करने की अनिवार्यता अभी उनके मन में बनी हुई थी। जगमोहन सिंह की कविताओं में इस प्रवृत्ति का अभाव नहीं था पर इनके साथ ही प्रकृति के सूक्ष्म नैसंर्गिक सौंदर्य से प्रेरणा ली है। विंध्य –प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा का सजीव और वैविध्यपूर्ण चित्रण उनके काव्य की अनन्य विशेषता है जिसका उदाहरण निम्नवत दिया जा रहा –

पहार अपार कैलास से काटिन ऊँची शिखा लगि अम्बर चूम।
निहारत दीठि भ्रमै पगिया गिरि जात उतंगता ऊपर झूम॥
प्रकाश पतंग सों चोटिन के बिकसै अरबिन्द मलिन्द सुझूम।
लसै कटि मेखला के जगमोहन कारी घटा घन घोरत धूम॥

आधुनिक हिन्दी – साहित्य में "भारतेन्दु – युगीन" रचनाओं में 'हास्य – व्यंग्य' का वर्णन

भारतेन्दु युग में हास्य – व्यंग्यात्मक रचनाओं की भी प्रचुर परिमाण में रचना हुई। पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, सामाजिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों आदि पर व्यंग्य करने के लिए कवियों ने विषय और शैली की दुष्टि से अनेक

नये प्रयोग किये। इस दिशा में भारतेन्दु जी का योगदान सर्वाधिक है। अपने नाटकों के प्रगीतों में कहीं-कहीं शिष्ट हास्य को स्थान देने के अतिरिक्त उन्होंने व्यंग्यगीतियों और मुकरियों की भी रचना की है। उनकी व्यंग्यगीतियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

1- पैरॉडी, 2- स्यापा, 3- गाली।

'बन्दरसभा' के गीतों की रचना उन्होंने उर्दू - नाटक, 'इंदरसभा' के गीतों की पैरोडी के रूप में की है। 'उर्दू का स्यापा' उर्दू - फारसी के 'स्यापा' नामक काव्यरूप की शैली में लिखित है, उदाहरण निम्नवत है -

" है है उर्दू हाय हाय, कहाँ सिधारी हाय हाय"(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

उपरोक्त पंक्ति में भारतेन्दु जी ने 'बनारस - अखबार' के समाचार - शीर्षक में 'उर्दू मारी गयी' पर व्यंग्य किया है। इसके साथ ही 'समधिन मधुमास' की रचना "गाली" नामक व्यंग्यगीत की शैली में की गयी है तथा इसी प्रकार 'नये जमाने की मुकरी' नामक शीर्षक से उन्होंने समकालीन सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों को ले कर कुछ मनोहारिणी मुकरियों की भी रचना की है। जिन पर अमीर खुसरो की शैली की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। जिसमें मद्यपान के संदर्भ में उन्होंने निम्नलिखित व्यंग्योक्ति रचना लिखी है -

मुँह जब लागै तब नहिं छूटे, जाति मान धन सब कुछ लूटे।

पागल करि मोहिं करे खराब, क्यों सखि सज्जन ? नहीं शराब।। (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

उपरोक्त संदर्भित काल में भारतेन्दु जी के अतिरिक्त भी अन्य हास्य - व्यंग्यकार रचनाकार हुए हैं जिनमें प्रेमघन एवं प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं। 'प्रेमरमघन - सर्वस्व' का 'हास्य - बिंदु' शीर्षक प्रकरण में समसामयिक स्थितियों के विनोदपूर्ण वर्णन और तज्जनित उद्बोधन की दृष्टि से सभी का हास्य - व्यंग्यकार रचनाकार के रूप में ध्यान आकृष्ट करता है। तथा प्रतापनारायण मिश्र जी की 'तृप्यन्ताम्', 'हरगंगा', 'बुढ़ापा' और 'ककराष्टक' शीर्षक नामक रचनाएँ भी अपनी नयी तर्ज एवं हास्य - व्यंग्यकार रचना के लिए प्रसिद्ध हैं।

इसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा - प्राप्त युवकों द्वारा भारतीय रीति - नीति को त्याग कर पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने पर प्रतापनारायण मिश्र जी ने अत्यन्त मार्मिक व्यंग्य किया है -

जग जानैं इंगलिश हमैं, वाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटै बदन का श्याम रंग-जन्म सुफल तब होय॥ (प्रतापनारायण मिश्र)

आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य में "भारतेन्दु - युगीन" रचनाओं में 'समस्या - पूर्ति'

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में भारतेन्दु - युग में गृहीत रीतिकालीन, काव्यशैलियों में "समस्यापूर्ति" पर्याप्त लोकप्रिय काव्यपद्धति प्रचलित हुई। कवियों, लेखकों की प्रतिभा और लेखनी कौशल को परखने के लिए कवि-गोष्ठियों और कवि-समाजों में कठिन-से-कठिन विषयों पर समस्यापूर्ति करायी जाती थी। इसमें भारतेन्दु जी द्वारा काशी में स्थापित "कविता-वद्धिनी - सभा", कानपुर का "रसिक-समाज", बाबा सुमरसिंह द्वारा निजामाबाद (वर्तमान आजमगढ़) में स्थापित "कवि-समाज" आदि ऐसे ही मंच थे। जहाँ नियमित रूप से कवि गोष्ठियाँ हो ती थी और किसी भी संदर्भित विषय में "समस्यापूरण" (समस्यापूर्ति) की प्रतियोगिता के रूप में प्रोत्साहित किया जाता था तथा प्रतिष्ठित कवि इनमें प्रतिभाग करने में संकोच नहीं करते थे तथा नये नौजवान कवियों-लेखकों का इससे उत्साहवर्ध न होता था। कानपुर के प्रतापनारायण मिश्र द्वारा 'पपीहा जब पूछिहै पीव कहाँ' शीर्षक नामक रचना की अधोलिखित पंक्तियाँ कितनी हृदयस्पर्शी बन पड़ी हैं, उदाहरणार्थ -

बन बैठि है मान की मूरति - सी, मुख खोलत बालै न 'नाहीं' न 'हाँ'।
तुम ही मनुहारि कै जारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ।
बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अब लौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलेगी कछु, पपीहा जब पूछिहै 'पीव' कहाँ
?(प्रतापनारायण मिश्र)

समस्यापूर्ति के लिए उस समय परम्परागत शृंगारिक विषयों का ही अधिक प्रचलन था। लेकिन यह दूसरी बात है कि नवीन सामाजिक परिवेश में हिन्दी साहित्य के इस काल में जिन नये - नये विषयों को स्थान प्राप्त होने लगा था, कभी-कभी उनकी झलक उपर्युक्त समस्यापूर्तियों में भी दिखाई दे जाती थी। शृंगार रस की ललित समस्यापूर्ति के लिए प्रेमघन, लछिराम, विजयानन्द त्रिपाठी, गोविन्द गिल्लाभाई, रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर', बेनी द्विज, ब्रजचन्द वल्लभी, आदि रचनाकारों को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। 'चरचा चलिये की चलाइए ना' की में प्रेमघन द्वारा अधोलिखित पंक्तियाँ प्रासंगिक हैं -

बगियान बसन्त बसेरो कियो, बसिए तेहि त्यागि तपाइए ना।
दिन काम कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना।।
'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम अहो ! बिथा बारि बृथा बरसाइए ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबै की चलाइए ना।
(प्रेमघन)

समस्यापूरण का वैशिष्ट्य कवियों की सूझ - बूझ, उक्ति - वैचित्र्य और और आशुकवित्व में होता है। तत्कालीन कवि समाज में समस्यापूर्ति के लिए वाहवाही प्राप्त करना गौरव की बात समझी जाती थी। अंबिकादत्त व्यास ने अपने कवि - जीवन का आरम्भ कविता-वद्धिनी-सभा में 'पूरी अमी की कटोरिया सी', 'चिरजीवी रहौ विक्टोरिया रानी' समस्या-की -पूर्ति करके किया था और इस पर उन्हें "सुकवि" की 'उपाधि' भी प्राप्त हुई थी। इनके पिता दुर्गा दत्त व्यास भी ब्रजभाषा के रसिक कवि थे, इनके द्वारा संकलित 'समस्यापूर्ति - प्रकाश' उस समय संदर्भित काल की प्रसिद्ध रचना है। इस प्रकार के अन्य संग्रहों में अम्बिकादत्त व्यास जी का 'समस्यापूर्ति - सर्वस्व', गोविन्द गिल्लाभाई का 'समस्यापूति - प्रदीप' और सीतापुर - निवासी गंगाधर 'द्विजगंग' का 'समस्या - प्रकाश' उल्लेखनीय है। नर्म देवेश्वर प्रसाद सिंह जी के कविता - संग्रह 'पंचरत्न' में उनकी समस्यापूर्तियाँ भी संगृहीत हैं।

इसी प्रकार से "भारतेन्दु - ग्रन्थावली" में भारतेन्दु जी की समस्यापूर्तियों का भी संग्रह किया गया है। संदर्भित - शोध के फलस्वरूप उदाहरणस्वरूप 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अंखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं' में भारतेन्दुकृत प्रतिपूर्ति निम्नवत है -

यह संग में लागिये डोलैं सदा बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो वियोग परै 'हरिश्चन्द' तो प्रलै की सु ठानती हैं।।
बसनी में थिरैं न झपैं उझपैं, पल में न समाइबौ जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।।

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य के विकासक्रम में 'भारतेन्दु - युग' के हिन्दी गद्य - साहित्य का महत्व और मूल्य हिन्दी - साहित्य में असाधारण है। इसी युग में हिन्दी - प्रदेश और देश में आधुनिक जीवन - चेतना का उद्घोष हुआ। मध्यमवर्गीय सामाजिक चेतना के परिवेश में साहित्य रचना का जो रूप उभरा, उसमें कहीं - कहीं सामन्तीय संस्कारों का अवशेष लक्षित होता है, किन्तु

वह टूटते के क्रम में है। रचनागत प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह बहुत बड़ा परिवर्तन था तथा हिन्दी – साहित्य सृजन की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी –गद्य साहित्य की प्राय: सभी विधाओं का सूत्रपात इसी युग में हुआ। विशेषत: निबन्ध तथा नाटक इन दोनों विधाओं में लेखकों को अभुतपूर्व सफलता प्राप्त हुई, उपन्यासों में सामाजिक जीवन के स्पंदन का स्वर भी इसी युग में सुनायी पड़ने लगा। सब कुछ मिला कर 'भारतेन्दु –काल' का साहित्य व्यापक जागरण, राष्ट्रीय – जागरण का संदेश लेकर आया तथा भाषा के अभुतपूर्व विकास में भी प्रगति हुई। इस युग में न केवल "हिन्दी–गद्य साहित्य" का स्वरूप स्थिर हुआ, वरन् उसके शुद्ध साहित्योपयोगी और व्यवहारोपयोगी रूपों की पूर्ण प्रतिष्ठा भी हुई।

अत: अन्त में प्रस्तुत शोध में निष्कर्ष निकलता है कि भारतेन्दु – युग राष्ट्रीय जागरण, देशभक्ति की भावना एवं कृतियों में श्रृंगारिकता, लोकधर्म, सामाजिक भावना, सांस्कृतिक विकास इत्यादि लेकर आया।

5

नवजागरणयुगीन हिंदी आलोचना और बालकृष्ण भट्ट

नवजागरणयुगीन साहित्यिक अभिरुचि का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हुए रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि उस जमाने में 'यद्यपि देश में नए-नए विचारों और भावनाओं का संचार हो गया था, पर हिंदी उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चली थी, पर हमारे साहित्य पर उसका कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने तो दूसरा मार्ग पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था। उनके विचारों और व्यापारों से लगा चलता है, यह नहीं कि उनकी चिंताओं और कार्यों का प्रवाह एक ओर जा रहा हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर।' (चिंतामणि–पहला भाग, पृ. 191)

जाहिर है कि शुक्ल जी समेत तमाम विचारकों एवं आलोचकों ने ठीक ही उस संक्रांति काल में 'हिंदी साहित्य को नए मार्ग पर खड़ा' करने का श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र समेत उनकी मंडली के रचनाकारों, विचारकों और समाज सुधारकों को दिया है। अपने विचारधारात्मक रुझान के तहत नए अंदाज में इस तथ्य को रेखांकित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'भारतेंदु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न रहकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का

साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है। भारतेंदु स्वदेशी आंदोलन के ही अग्रदूत न थे। वे समाज-सुधारकों में भी प्रमुख थे। स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, विदेश-यात्रा आदि के वे समर्थक थे।' (भारतेंदु युग, पृ. 10)

स्पष्ट ही नवजागरण काल में 'हिंदी नए चाल में ढली' और आलोचना समेत तमाम साहित्यिक विधाओं में आधुनिक दृष्टि का प्रवेश हुआ। इस काल के लेखन की सबसे बड़ी विशेषता इसमें निहित सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना है। यह चेतना भारतेंदु और उनके जिन साथी साहित्यकारों में प्रखरता के साथ मिलती है उनमें बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' शामिल हैं।

यह ठीक है कि भारतेंदु के पहले भारतीय काव्यशास्त्र को उपजीव्य बनाकर रचित रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय विवेचना के रूप में हिंदी आलोचना का जन्म हो चुका था, पर उसमें न तो नए सिद्धांतों का प्रतिपादन मिलता है और न ही किसी कविता का सूक्ष्म विवेचन। संभवतः इसी वजह से रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों के बारे नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि 'इन्हें आलोचना ग्रंथ किस अर्थ में कहा जाए, यह भी एक समस्या ही है।' (हिंदी साहित्य–बीसवीं शताब्दी, पृ. 55)। वस्तुतः रसवादी और अलंकारवादी दृष्टि से रचित रीतियुगीन लक्षण ग्रंथों में तत्कालीन सामाजिक जीवन के अभ्यांतरीकरण की कोई स्थिति नहीं दिखाई पड़ती। इसलिए उसमें जीवन का मर्म व्यंजित नहीं हो सका। मुक्तिबोध की शब्दावली उधार लेकर कहें तो रीतिग्रंथ 'बोधहीन बौद्धिकता' के शिकार प्रतीत होते हैं।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में ऐसी जब्दी हुई मनोवृत्ति से भिन्न ही नहीं, बल्कि विपरीत भारतेंदु और उनके साथी रचनाकार-आलोचक साहित्य को 'रस युक्त वाक्य' या 'रमणीय अर्थों को प्रतिपादित करने वाली शब्द संरचना' के बजाय जब 'जनसमूह के हृदय का विकास' या 'जनसमूह के चित्त का चित्रपट' कहते हैं तो इससे साहित्य के बारे में उनकी समाज सापेक्ष आधुनिक दृष्टि का पता चलता है। अपनी 'भारतेंदु युग' पुस्तक में बालकृष्ण भट्ट के निबंध 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' के महत्व को रेखांकित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने भट्ट जी से 'हिंदी आलोचना का जन्म' मानते हुए कहा है कि 'लेख के नाम से ही भट्ट जी का आधुनिक दृष्टिकोण प्रकट हो जाता

है। साहित्य रसात्मक वाक्य या कवि के अंत:पुर का लीला-विनोद न होकर जनसमूह के हृदय का विकास है।' (पृ. 107)।

नवजागरण काल में रचित साहित्य की सभी विधाओं में वैचारिकता का आग्रह दिखाई पड़ता है। शुक्ल जी ने इसे ठीक ही 'गद्य युग' कहा है। वजह यह कि रीतिकालीन कविता के विपरीत इस युग के कवियों की ब्रजभाषा में रचित कविताओं में भी गद्य का पूरा का पूरा वाक्य छंदों में पिरो देने की प्रवृत्ति नजर आती है। चूँकि विचार को प्राय: पद्य के बजाए गद्य में व्यक्त करना सहज होता है, इसलिए इस युग में विभिन्न साहित्यिक एवं सामाजिक मुद्दों पर पत्र-पत्रिकाओं में अनेकानेक निबंध एवं टिप्पणियाँ प्रकाशित होने लगीं जिनसे कालांतर में आलोचना का विकास हुआ। इन निबंधों एवं टिप्पणियों में तत्कालीन भारतीय समाज की आवश्यकताओं तथा जनता की परिवर्तित अभिरुचि के मद्देनजर रचना की अंतर्वस्तु एवं रूप में परिवर्तन की जरूरत पर बल दिया गया है। उदाहरण के लिए भारतेंदु ने जब 'दृश्य काव्य अथवा नाटक' (1883) निबंध लिखा तो उनका मकसद समसामयिक जनाभिरुचि के तहत प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार करते हुए यह स्पष्ट करना था कि बदली हुई सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति में 'हिंदी के नाटकों का स्वरूप कैसा होना चाहिए'। गौरतलब है कि वे अपने समय के नाटकों में प्राचीन नाट्य-कृतियों की तरह अस्वाभाविक एवं अलौकिक दृश्यों को दिखाए जाने के सख्त खिलाफ थे।

साहित्यदर्पणकार पंडितराज विश्वनाथ के एक सुविख्यात 'लोक में 'काव्यानंद' को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा गया है –

'सत्वोद्रेकादखंडस्वप्रकाशानंद चिन्मय:
वेद्यांतरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर:
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित्प्रमातृभि:
स्वाकारवद भिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस:'

पंडितराज विश्वनाथ का नाम लिए बगैर उनके 'साहित्यदर्पण' में उल्लिखित 'ब्रह्मानंद सहोदर' जैसी आध्यात्मिक शब्दावली की बखिया उधेड़ते हुए बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं–'लोग कहते हैं ब्रह्मानंद का-सा कोई दूसरा आनंद नहीं है पर सच पूछिए तो ऐसा समझने वालों ने खूब डूबाकर नहीं सोचा। कितने ऐसे आनंद हैं जिनके आगे ब्रह्मानंद झख मारता है, कवि लोग शृंगार आदि नौ रसों का स्वरूप लिखते ही हैं 'ब्रह्मानंद सहोदर' अर्थात ब्रह्म के ज्ञान और साक्षात्कार में जो सुख की प्राप्ति होती है यह रस का ज्ञान और अनुभव का सुख

भी उसी ब्रह्मानंद का सगा भाई है। सरदी खूब सुरखी पकड़े हो, मारे जाड़े के दाँत किटाकिट बोलते हों, रात का समय हो, पाँच सेर रुई का लिहाफ ओढ़ किसी कोमलांगी विकसित यौवना नवयुवती के कोमल अंगों में अंग साट सो रहना ब्रह्मानंद से क्या कम है? ...लिखने बैठा जब कोई उम्दा बात सूझ गई और एक चोटीले में चोटीला जी में चुभ जाने वाला आशय लिखकर तैयार हो गया उस समय हमारे जी के आनंद के सामने ब्रह्मानंद खड़ा-खड़ा हाथ जोड़े पछताया करता है।'

बालकृष्ण भट्ट के आलोचनात्मक अवदान पर विचार करने के पूर्व ध्यातव्य है कि किसी आलोचक की आलोचना-दृष्टि इस बात पर निर्भर हुआ करती है कि उसके पास साहित्य के बारे में कोई नवीन धारणा है या नहीं और साहित्य चूँकि जीवन की ही पुनर्रचना है, इसलिए जिस आलोचक के पास इतिहास के साथ ही अपने वर्तमान जीवन के बारे में नई धारणा होगी, उसी के पास साहित्य को लेकर भी किसी नई धारणा की उम्मीद की जा सकती है। 'कला का मोती चूँकि समाज की सीपी में ही आकार ग्रहण करता है' (क्रिस्टोफर कौडवेल), इसलिए गहरे इतिहास-बोध एवं प्रखर सामाजिक चेतना के बगैर किसी लेखक की रचना या आलोचना-दृष्टि की बात बेमानी है। उल्लेखनीय है कि इतिहास या साहित्य-परंपरा का बोध होना और उसके बोझ से दबे होना, दोनों अलग-अलग बातें हैं। परंपरा से आक्रांत रचनाकार या आलोचक से अपने समय की सामाजिक जड़ता और यथास्थिति को तोड़ने के लिए कुछ सार्थक लिख पाना असंभव है।

नवजागरणयुगीन हिंदी आलोचकों में गहरे इतिहास-बोध एवं प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य-परंपरा के अगाध पांडित्य साथ ही अपने समय-समाज में व्याप्त जड़ता को तोड़कर नए भारत के निर्माण का माद्दा था। उनमें से अधिकांश रचनाकार, पत्रकार और समाजसेवी भी थे। इस युग के अग्रगण्य लेखकों में एक बालकृष्ण भट्ट ने सन 1877 से लगातार 33 वर्षों तक 'हिंदी प्रदीप' का संपादन करने के साथ ही दो कहानियाँ, तकरीबन पचपन कविताएँ और चार मौलिक (कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह, चंद्रसेन) तथा अनेक अनूदित नाटकों की रचना की है, जिनकी संख्या भट्ट जी के पौत्र और भट्ट निबंधावली पुस्तक के संपादक डॉ. मधुकर भट्ट 'सरल' के अनुसार 18 है। इसलिए उनकी आलोचना का दायरा केवल साहित्य न होकर व्यापक समाज तक फैला हुआ है, जिसमें सैद्धांतिक शुष्कता के बजाए संवेदनशीलता, संवादधर्मिता

और ताजगी है। उसे 'सभ्यतालोचन' कहा जाना चाहिए। साहित्य और सभ्यता के बीच अन्योन्याश्रय संबंध की ओर इंगित करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि 'साहित्य का सभ्यता से घनिष्ठ संबंध है, वरन साहित्य ही सभ्यता का प्रधान अंग है। यह कभी हो ही नहीं सकता कि कोई देश सभ्यता में बढ़ जाए और साहित्य वहाँ की भाषा के पीछे डटा रहे। जो देश सभ्यता के छोर तक पहुँच पीछे गिरी दशा में आ गया है तो वहाँ का साहित्य ही उस देश का नपना होता है। कि यहाँ सभ्यता किस सीमा तक पहुँच चुकी थी।'

हिंदी आलोचना के विकास में भट्ट जी के योगदान को महत्वपूर्ण मानने के बावजूद रामचंद्र शुक्ल ने भारतेंदु और विशेषत: प्रेमघन से हिंदी आलोचना का आरंभ माना है। किंतु, अपने अथाह भारतेंदु-प्रेम के लिए विख्यात डॉ. रामविलास शर्मा ने 'बालकृष्ण भट्ट और हिंदी आलोचना का जन्म' निबंध में लिखा है कि 'भट्ट जी अपने गंभीर अध्ययन, आलोचन-प्रतिभा, संयत शैली आदि गुणों के कारण बहुत कुछ आज के-से लगते हैं।.. उनकी वास्तविक प्रतिभा एक अध्ययनशील विद्वान और तीक्ष्ण बुद्धि आलोचक की है। उन्हें आधुनिक हिंदी आलोचना का जन्मदाता कहना उचित होगा।' बच्चन सिंह ने भी माना है कि 'वास्तविक आलोचना का शुभारंभ बालकृष्ण भट्ट के निबंधों से होता है।' इसी प्रकार रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी भट्ट जी के 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित निबंधों से व्यावहारिक आलोचना का उद्भव स्वीकार किया है।

सच तो यह है कि लाला श्रीनिवास दास रचित 'संयोगिता स्वयंवर' नामक ऐतिहासिक नाटक की भट्ट जी द्वारा 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से लिखित आलोचना ही कायदे से हिंदी की सर्वप्रथम आलोचना है जिसकी शुरुवात सवालिया अंदाज में होती है–'लाला जी यदि बुरा न मानिए तो एक बात आपसे धीरे से पूछै वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे? क्या किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो जाएगा? यदि ऐसा है तो गप्प हाँकने वाले दस्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा... किसी समय के लोगों के हृदय की दशा क्या थी उसकी आभ्यंतरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे... इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उसके दरसाने का यत्न नाटकों के द्वारा कीजिए।'

भवभूति के एक कथन 'यदा ध्यानं तपोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च तत्कथने नकिं नाह तत: कश्चिदगुणा: नाटके...' का हवाला देते हुए भट्ट जी

लिखते हैं कि नाटक में लेखक द्वारा पांडित्य प्रदर्शन के बजाए मनुष्य के हृदय से उसका गाढ़ा परिचय झलकना चाहिए पर 'संयोगिता स्वयंवर' में 'राजा, मंत्री, कवि यहाँ तक कि संयोगिता बेचारी भी अपना पांडित्य ही प्रकाश करने के यत्न में हैरान हो रहे हैं।' इससे खीझकर भट्ट जी टिप्पणी करते हैं कि 'भला बताइए यह कौन-सा ढंग भावों की दरसाने का है? कविता के मीठे रस के बदले नैयायिकों की तरह कोरा तर्क-वितर्क करना भाव का गला घोंटना है या और कुछ...? मनुष्य के बदले आपके नाटक के पात्रों को नीरस और रूखे से रूखे अर्थान्तरन्यास गढ़ने की कलंक कहें तो अनुचित न होगा।' (निबंधों की दुनिया–बालकृष्ण भट्ट, पृ. 37)

साहित्य क्षेत्र में आलोचकों के पांडित्य प्रदर्शन की बखिया उधेड़ते हुए बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं–'विद्वान को अपने गले में ढोल डालकर अपनी विद्या का डंका बजाने की कोई जरूरत नहीं हैं। आलोचक में केवल दूसरों की आलोचना करने का साहस ही न होना चाहिए, वरंच अपनी आलोचना दूसरों से सुनने और उसकी तीव्रता सहने की हिम्मत भी होना चाहिए। जिस प्रकार वह समझता है, कि मेरी बातों को दूसरे ध्यान से सुनें, उसी प्रकार उसे स्वयं भी दूसरों की बातें बड़ी धीरता और स्थिरता से सुननी चाहिए। यह नहीं कि आप तो जो चाहे सो कह डाले और दूसरा कुछ कहे तो गुस्से से मुँह में झाग भर लावे, जबान काबू में न रख सके।' ('निबंधों की दुनिया–बालमुकुंद गुप्त', प्रधान संपादक–निर्मला जैन, संपादक रेखा सेठी, पृ. 12, वाणी प्रकाशन, दिल्ली)

बतौर आलोचक बालकृष्ण भट्ट हमारे समय के अनेक आलोचकों से भिन्न रचनाकार के प्रति पूर्वग्रह से पीड़ित नहीं हैं। उनमें जहाँ एक ओर असहमति का साहस है वहीं दूसरी और सहमति का विवेक भी। लाला श्रीनिवासदास के ही 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक की उनकी आलोचना इसका प्रमाण है। उनके शब्दों में 'ट्रेजेडी के किस्म का यह पहला नाटक है, जो हिंदी भाषा में रचा गया है। इसमें शृंगार, हास्य और करुण ये तीनों रस उत्तर रीति से निबाहे गए हैं। बीच-बीच में सदुपदेश और लोकोक्ति इस ढंग से रची गई है जिससे उन रसों में मानो जान पिरो दी गई हो। रणधीर और प्रेमामोहिनी का प्रेम, रिपुदमन का सच्चा मैत्री भाव, जीवन की स्वामिभक्ति, नाथूराम का माड़िवारयों का-सा बनियापन, सुखवासी लाल की स्वार्थपरता सब कुछ अच्छी तरह से इसमें दिखाई गई है।'

याद रहे कि प्रबंधकार कवि द्वारा मार्मिक स्थलों की पहचान की आवश्यकता पर बल देते हुए राम वनगमन प्रसंग के बजाए ग्रामवधुओं द्वारा गाए

गए मजाक भरे गीतों के प्रसंग को तुलसीदास के मुकाबले केशवदास द्वारा अति विस्तार से वर्णित किए जाने के कारण शुक्ल जी ने लिखा है कि 'केशवदास को कवि-हृदय नहीं मिला था।' कहने की जरूरत नहीं कि पांडित्य प्रदर्शन केवल रचना ही नहीं, बल्कि आलोचना की भी एक बड़ी समस्या है। इससे आलोचना संवादधर्मी होने के बजाय उबाऊ और आतंककारी एकालाप बन जाने के लिए अभिशप्त होती है।

बालकृष्ण भट्ट ने 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' शीर्षक सुप्रसिद्ध निबंध में साहित्य के बारे में अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रगट हो सकते हैं।साहित्य यदि जनसमूह (नेशन) के चित्त का चित्रपट कहा जाय तो संगत है। किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय-समय के आभ्यंतरिक भाव हमें प्रस्फुटित हो सकते हैं।' (निबंधों की दुनिया–बालकृष्ण भट्ट, पृ. 25)

वस्तुतः भट्ट जी के इस निबंध में निहित साहित्य की सामाजिक भूमि और सामाजिक भूमिका की शिनाख्त करने वाली नई दृष्टि का विकास हमें शुक्ल जी की उस स्थापना में दिखाई पड़ता है जिसमें उन्होंने लिखा है कि 'जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है।'

बालकृष्ण भट्ट एवं रामचंद्र शुक्ल की साहित्य-विषयक धारणाओं की तुलना करते हुए मैनेजर पांडेय कहते हैं कि 'आचार्य शुक्ल की धारणा बालकृष्ण भट्ट की साहित्य की जनवादी धारणा का ही परिष्कृत रूप है।' सच तो यह है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध सरीखे बाद के अनेक महत्वपूर्ण रचनाकारों-आलोचकों के चिंतन में भट्ट जी की साहित्य-विषयक धारणा की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। द्विवेदी जी जहाँ मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य घोषित करते हैं वहीं मुक्तिबोध की स्पष्ट मान्यता है कि 'साहित्य वह समन्वय है जिसकी रूप-रचना का आकार व्यक्ति की शक्ति से बना होकर भी जिसके तत्त्व सामाजिक हैं।' (मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृ. 32)

जिस प्रकार 'शिवशंभू के चिट्ठे' की अपार लोकप्रियता के कारण बालमुकुंद गुप्त के बाकी लेखन की ओर पाठकों का ध्यान कम गया, उसी तरह 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' निबंध की आत्यंतिक महत्ता के चलते बालकृष्ण भट्ट का शेष लेखन परवर्ती अध्येताओं की नजरों से ओझल रहा है। इस संदर्भ में रोचक शैली में रचित 'शब्दों की आकर्षण शक्ति', 'प्रतिभा', 'उपमा', 'कल्पना शक्ति', 'प्रतिभा', 'माधुर्य' सरीखे कई पांडित्यपूर्ण शास्त्रीय निबंधों के अलावा भट्ट जी का 'सच्ची कविता' निबंध खास तौर से विचारणीय है जिसमें कविता की वैधानिक एवं भाषिक संरचना को लेकर कई महत्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। अपने समय में काव्य-सृजन के क्षेत्र में प्रचलित परिपाटीबद्ध लेखन की बखिया उधेड़ते हुए बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं–'हिंदी के कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुकरण कर आज तक चले आए हैं और उस ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की भी कविता हो सकती है यह बात उनके मन में धँसती ही नहीं जिसकी उपमा हम एक छोटे से तालाब की देंगे। जिसमें न कहीं से पानी का निकास है और न नया ताजा पानी उसमें आने की आशा है तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन-दिन सड़ता ही जाय और गंदगी बढ़ती जाय ताकि नियमबद्ध हो जाने से गिनी-गिनी बातें उनके लिए बच रहीं उन्हीं का बार-बार पिष्ट पेषण किया करें।'

याद रहे कि अपने समय में रीतिमुक्त कवि ठाकुर ने भी काव्य-सृजन के क्षेत्र में चर्वित-चर्वण करने वाली कवियों का विरोध करते हुए लिखा था–'ठेल सो बनाय आए मेलत सभा के बीच/लोगन कवित्त कीनो खेल करि जानो हैं।'

'सच्ची कविता' निबंध में भट्ट जी ने सभ्यता के आरंभ से लेकर अपने समय तक कविता के विकास की प्रक्रिया को भी रेखांकित किया है। उनका मानना है कि 'कविता में ...निस्संदेह पहले जिन लोगों ने कुछ कहा वह तो सच्ची और खरी बात थी। क्योंकि कविता का आर्ट हुनर तब तक पैदा ही नहीं हुआ था।.. इसको हम प्राथमिक अथवा वास्तविक कविता कहेंगे हमारे वेदादि सत्य शास्त्र उस समय की कविता के बहुमूल्य रत्न हैं। जब कविता और बढ़ी और उसमें उसमें रस या स्वादु स्थापित हुआ तो बातें पहले रूखी और फीकी थीं उनमें अब छीलकर चमक दमक हो गई और कवियों के भी वृंद के वृंद पैदा हो गए।' वाल्मिकी, व्यास, गुणाढ्य से लेकर कालिदास, भवभूति, श्री हर्ष, दंडी, भारवि आदि के समय को कविता का क्लासिक युग बताते हुए भट्ट जी आगे कहते हैं कालांतर में 'गांभीर्य इन कवियों के अक्षरों का घटता ही चला आया।'

वे गांभीर्य उस लेखन में मानते हैं 'जिसे ज्यों-ज्यों मनन कीजिए त्यों-त्यों उसका आशय गूढ़ होता जाय और नई बातें ऐसी निकलती आवें जिसे आपकी विचार शक्ति सिवाय अंगीकार करने के उसकी सजावट को किसी तरह इनकार न कर सके... सुसंस्कृत कविता अवश्यमेव कृत्रिमता दोष से पूरित रहेगी... यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होंगी और उसका असर भी सच्चा ही होगा।' इसके विपरीत जब नियमबद्ध होकर रचना की जाएगी रचनाकार के खयालात बिल्कुल निराले ढंग पर दौड़ें यह असंभव है। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो प्रकारांतर से भट्ट जी रचना में अनुभूति और अभिव्यक्ति के बाह्यांतर योग में कला की सिद्धि मानते हैं पर रचना-क्षेत्र में उनका बल सहजता और स्वाभाविकता पर है। भट्ट जी के सच्ची कविता विषयक इस मंतव्य के आलोक में यदि वैदिक 'उषा-स्तुति' और शमशेर की 'उषा' कविता में पहली सच्ची कविता है और दूसरी में कला की सिद्धि है।

अपने इसी निबंध में जब बालकृष्ण भट्ट 'ग्राम कविता' को 'उत्तम श्रेणी की भाषा कविता' के मुकाबले ज्यादा महत्व देते हैं तो अनायास ही रेमंड विलियम्स की 'देहात और शहर' ('कंट्री एंड सिटी') पुस्तक के साथ ही भारतेंदु के 'जातीय संगीत' निबंध की याद हो आती है। भट्ट जी के अनुसार ग्राम कविता में 'चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खिंची पाई जाती है।.. काव्य के नियम और कायदों से वे कोसों दूर हैं।' मल्लाहों के गीत, कहारों का कहरवा, बिरहा अथवा आल्हा आदि का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ने वालों पर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी लिखते हैं—'इनकी प्रशंसा में यदि हम कुछ कहें तो नागरिक जन जो भाषा की उत्तम कविता के रसपान के घमंड में फूले नहीं समाते अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार कहेंगे।' इस संदर्भ में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि 'डूबकर दूर तक सोचिए तो कविता पहले ग्रामीण हुए बिना प्रचलित नहीं हो सकती और उसी ग्रामीण कविता को माँजते-माँजते वही नागरिक तक उच्च श्रेणी की कविता बन जाती है।'

भारत में 'जातीयता' एवं 'जातीय भावना' के सम्यक विकास की आवश्यकता पर बल देते हुए बालकृष्ण भट्ट ने हमारे समाज की बहुलतावादी संरचना को ध्यान में रखते हुए लिखा है—'सहानुभूति और विश्वास यही दो जातीयता नदी के दो किनारे हैं। एक भाषा एक मत वा एक धर्म एक ही कुल गोत्र या वंश में जन्म आदि से भी सहानुभूति और विश्वास वृक्ष की जड़ पुष्ट

पड़ती जाती है। प्रयोजन की सिद्धि इस जातीयता का फल है सो जातीयता बिना सहानुभूति के अकेली भाषा, अकेला धर्म वा मत से कभी नहीं होती वरन अलग-अलग ये तीनों जातीयता के विरोधी हैं।' प्रकारांतर से यहाँ जाति, भाषा, क्षेत्र आदि पर आधारित कट्टरता का निषेध करते हुए बालकृष्ण भट्ट द्वारा जिस प्रकार अनेकता में एकता पर बल दिया गया है वह भारत के लिए ऐच्छिक या वैकल्पिक नहीं, बल्कि एक राष्ट्र-राज्य के रूप में हमारे अस्तित्त्व की बुनियाद है।

6

द्विवेदी युग

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण भारतेन्दु-युग है एवं दूसरा चरण द्विवेदी-युग। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद् होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने सरस्वती का अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनंदन किया था उनके सम्मान में

द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं, ''मुझे आचार्य की पदवीं मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ।. ...शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरजरू कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया ?''

महावीर प्रसाद द्विवेदी

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी गद्य साहित्य के महान् साहित्यकार, पत्रकार एवं युगविधायक हैं।

जीवन परिचय

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् 1864 ई. में उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम रामसहाय द्विवेदी था। कहा जाता है कि उन्हें महावीर का इष्ट था, इसीलिए उन्होंने अपने पुत्र का नाम महावीर सहाय रखा।

शिक्षा

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही हुई। प्रधानाध्यापक ने भूल से इनका नाम महावीर प्रसाद लिख दिया था। हिन्दी साहित्य में यह भूल स्थायी बन गयी। तेरह वर्ष की अवस्था में अंग्रेजी पढ़ने के लिए यह रायबरेली के जिला स्कूल में भर्ती हुए। यहाँ संस्कृत के अभाव में इनको वैकल्पिक विषय फारसी लेना पड़ा। इन्होंने इस स्कूल में ज्यों-त्यों एक वर्ष काटा। उसके बाद कुछ दिनों तक उन्नाव जिले के 'रनजीत पुरवा स्कूल' में और कुछ दिनों तक फतेहपुर में पढ़ने के बाद यह पिता के पास बम्बई चले गए। बम्बई में इन्होंने संस्कृत, गुजराती, मराठी और अंग्रेजी का अभ्यास किया।

कार्यक्षेत्र

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की उत्कृष्ट ज्ञान-पिपासा कभी तृप्त न हुई, किन्तु जीविका के लिए इन्होंने रेलवे में नौकरी कर ली। कुछ दिनों तक नागपुर और अजमेर में कार्य करने के बाद यह पुनः बम्बई लौट आए। यहाँ पर इन्होंने तार देने की विधि सीखी और रेलवे में सिगनलर हो गए। रेलवे में विभिन्न पदों पर कार्य करने के बाद अन्ततः यह झाँसी में डिस्ट्रिक्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट के ऑफिस में चीफ क्लर्क हो गए। पाँच वर्ष बाद उच्चाधिकारी से न पटने के कारण इन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मैट्रिक तक की पढ़ाई की थी। तत्पश्चात् वे रेलवे में नौकरी करने लगे थे।

उसी समय इन्होंने अपने लिए सिद्धान्त निश्चित किए-वकत की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। द्विवेदी जी ने लिखा है, ''पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेट-लेयर तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह की एक दफे मुझे छोड़कर तरक्की के लिए दरखवास्त नहीं देनी पड़ी।'' द्विवेदी जी 15 रुपये मासिक पर रेलवे में बहाल हुए थे और जब उन्होंने 1904 ई. में नौकरी छोड़ी, उस वक्त 150 रुपये मूल वेतन एवं 50 रुपये भत्ता मिलता था, यानी कुल 200 रुपये।

उस जमाने में यह एक बहुत बड़ी राशि थी। वे 18 वर्ष की उम्र में रेलवे में बहाल हुए थे। उनका जन्म 1864 ई. में हुआ था और 1882 ई, से उन्होंने नौकरी प्रारंभ की थी। नौकरी करते हुए वे अजमेर, बंबई, नागपुर, होशंगाबाद, इटारसी, जबलपुर एवं झाँसी शहरों में रहे। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते हुए पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का अभ्यास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 1895 ई. में श्रीमहिम्नस्तोत्र की रचना की, जो पुष्पदंत के संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर है। द्विवेदी जी ने सभी पद्यरचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में ही किया है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है, ''इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का

जो सांप्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान हैं, मैं परम कृतज्ञ हूँ।'' अपने 'आत्म-निवेदन' में उन्होंने लिखा है, ''बचपन से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कंठस्थ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा।

मेरा यह रोग बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों बना रहा।'' 1889 से 1892 ई. तक द्विवेदी जी की इस प्रकार की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं-विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी, देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि। 1896 ई. में इन्होंने लॉर्ड बेकन के निबंधों का हिन्दी में भावार्थ मूलक रुपांतर किया, जो बेकन-विचार-रत्नावली पुस्तक में संकलित हैं। 1898 ई. में इन्होंने हिन्दी कालिदास की आलोचना लिखी, जो हिन्दी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। 1988 ई. में श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर इन्होंने नैषध-चरित-चर्चा नामक आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक पुस्तक लिखी। यह सिलसिला जो शुरू हुआ, वह 1930-31 ई. तक चला और द्विवेदी जी की कुल पच्चासी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

जनवरी, 1903 ई. से दिसंबर, 1920 ई. तक इन्होंने सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का संपादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था, इसीलिए इस काल को हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। अपने प्रकांड पांडित्य के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाने लगा। उनके व्यक्तित्त्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है, ''उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ।'' द्विवेदी जी का मानना था कि 'ज्ञान-राशि' के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' द्विवेदी जी स्वयं तो एक 'महान ज्ञान-राशि' थे ही उनका संपूर्ण वाङ्मय भी संचित ज्ञानराशि है, जिससे होकर गुजरना अपनी जातीय परंपरा को आत्मसात करते हुए विश्वचिन्तन के समक्ष भी होना है। डॉ. रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, ''द्विवेदी जी ने अपने साहित्य जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया।

उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह संपत्तिशास्त्र है।.....अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं।

इसके साथ उन्होंने राजनीति विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीति घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिन्तन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।''

ऐसे महान ज्ञान-राशि के पुंज थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। किन्तु रामविलास शर्मा के पूर्व जितने भी आलोचक हुए, उन्होंने द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन तो नहीं ही किया, अपितु उनका अवमूल्यन ही किया। इन महान आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में द्विवेदी जी पर जो टिप्पणी की है, उस पर एक नजर डालें, ''द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में सरस्वती के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उससे बहुत-कुछ समझ जाएँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही है। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं।

स्थायी निबंधों की श्रेणी में चार ही लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकाल या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं।'' इसी प्रसंग में रामचन्द्र शुक्ल आगे लिखते हैं, ''कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विदीजी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे।

पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखंड के लिए हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने में ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

अब आप देखें कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन के प्रति रामचंद्र शुक्ल की ये टिप्पणी पढ़कर हिन्दी का कोई भी पाठक उससे विरक्त होगा या आसक्त। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी के विद्यार्थी साठ-पैंसठ वर्षों से आप्त वचनों की तरह याद करते आ रहे हैं। ऐसे में मूल पाठ से उनके आप्त वाक्यों का यदि मिलान कर परीक्षण न किया जाए, तो अनर्थ होगा ही। रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक, सबसे बड़े साहित्येतिहास-लेखक हैं। इसी इतिहास में वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदानों को सिर्फ भाषा-परिष्कारकर्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्द हैं, ''यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है।

यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।'' दरअसल शुक्ल जी जिस आलोचना-पद्धति का सहारा लेकर उक्त बातें लिख रहे थे, उसे हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं और इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों का ध्यान ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन से हटाकर अधिकांशतः कलापक्ष तक ही सीमित कर दिया है। कलापक्ष की ओर ध्यान देने वाले आलोचकों का कहना हैं कि युगीन परिस्थितियाँ, युगीन चेतना और युग सत्य निरंतर परिवर्तनशील हैं। अतएव इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण इन्हें साहित्य का स्थायी मानदंड स्वीकार किया जा सकता। लेकिन इसी के साथ यह भी सत्य है कि ऐसी दशा में निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

इसका मुख्य कारण है ऐसे आलोचक का रचनाकार और रचना पर फतवे जारी करना। यही कारण है कि रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के विचारों को, उनके संचित ज्ञान-राशि पर ध्यान नहीं दिया और उनकी भाषा पर विचार किया। 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर'-यह अभिव्यक्ति की प्रणाली पर बात की जा रही है, जो निस्संदेह भाषा है। जब द्विवेदी जी मूर्ख या मोटे दिमाग वालों के लिए लिखते थे और मोटी तरह से लिखते थे तो उन्होंने भाषा परिष्कार कैसे किया ? जिस लेखक को भाषा की सतही समझ होगी, वह दूसरे लेखकों की भाषा को दुरुस्त कैसे करेगा ? पुनः रामचन्द्र शुक्ल की बातों पर विचार करें-महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शाश्वत साहित्य या स्थायी साहित्य नहीं लिखा। उनका महत्त्व भाषा-सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है-मोटी अक्लवालों के लिए है। इस तरह की बातों से आचार्य शुक्ल का इतिहास भरा हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-नवरत्न की समीक्षा लिखते हुए लिखा है, ''इस तरह की बातें किसी इतिहास कार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास-लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।''

सन् 1933 ई. में आचार्य द्विवेदी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। इसकी प्रस्तावना श्यामसुंदर दास एवं रायकृष्णदास के नाम से प्रकाशित हुई, किन्तु यह लिखी गई नंददुलारे वाजपेयी द्वारा। इसलिए यह 1940 ई. में प्रकाशित वाजपेयी जी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी में संकलित है। इसमें यह विचार किया गया है कि स्थायी या शाश्वत साहित्य में द्विवेदी जी का साहित्य परिगणित हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिकोण से महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित संपूर्ण साहित्य को अयोग्य ठहरा दिया गया। सिर्फ उनके द्वारा संपादित सरस्वती के अंकों को ही महत्त्व दिया गया।य

द्विवेदी युग का समय सन 1900 से 1920 तक माना जाता है। बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशक के पथ-प्रदर्शक, विचारक और साहित्य नेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस काल का नाम 'द्विवेदी युग' पड़ा। इसे 'जागरण सुधारकाल' भी कहा जाता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के ऐसे पहले लेखक थे, जिन्होंने अपनी जातीय परंपरा का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, अपितु उसे आलोचकीय दृष्टि से भी देखा। उन्होंने वेदों से लेकर पंडितराज

जगन्नाथ तक के संस्कृत साहित्य की निरंतर प्रवाहमान धारा का अवगाहन किया एवं उपयोगिता तथा कलात्मक योगदान के प्रति एक वैज्ञानिक नजरिया अपनाया। कविता की दृष्टि से द्विवेदी युग 'इतिवृत्तात्मक युग' था। इस समय आदर्शवाद का बोलबाला रहा। भारत का उज्ज्वल अतीत, देश-भक्ति, सामाजिक सुधार, स्वभाषा-प्रेम आदि कविता के मुख्य विषय थे। नीतिवादी विचारधारा के कारण श्रृंगार का वर्णन मर्यादित हो गया। कथा-काव्य का विकास इस युग की विशेषता है। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस युग के यशस्वी कवि थे। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसी युग में ब्रजभाषा में सरस रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

नामकरण

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही यह काल 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। इसे 'जागरण-सुधारकाल' भी कहा जाता है। इस समय ब्रिटिश दमन-चक्र बहुत बढ़ गया था। जनता में असंतोष और क्षोभ की भावना प्रबल थी। ब्रिटिश शासकों द्वारा लोगों का आर्थिक-शोषण भी चरम पर था। देश के स्वाधीनता संग्राम के नेताओं द्वारा पूर्ण-स्वराज्य की मांग की जा रही थी। गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य गंगाधर तिलक जैसे नेता देश के स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व कर रहे थे। इस काल के साहित्यकारों ने न सिर्फ देश की दुर्दशा का चित्रण किया, बल्कि देशवासियों को आजादी की प्राप्ति की प्रेरणा भी दी। राजनीतिक चेतना के साथ-साथ इस काल में भारत की आर्थिक चेतना भी विकसित हुई।

द्विवेदीजी का योगदान

सन 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ। इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्यामसुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बालमुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्णसिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन

और घटनाओं की रोचकता है। हिन्दी कहानी का वास्तविक विकास 'द्विवेदी युग' से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की 'इंदुमती' कहानी को कुछ विद्वान् हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की 'दुलाई वाली', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा भी कुछ नाटक लिखे गए।

नाट्य साहित्य

'द्विवेदी युग' नाट्य साहित्य की दृष्टि से सबसे कम समृद्ध है। इस काल में मौलिक नाटकों के सृजन में कमी आई। ऐसा लगता है कि नाटकीय गतिविधि धीरे-धीरे काफी कम हो गई थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में जो नाटक मंडलियाँ थीं, वे व्यावसायिक तो थीं नहीं, इसलिए समय के साथ वे काल के गाल में समा गईं। इस युग के प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं उच्च कोटि के अभिनेता माधव शुक्ल ने अव्यवसायिक रंगमंच को फिर से जिन्दा करने की कोशिश की। बात 1908 की है, जब उन्होंने इलाहाबाद की रामलीला नाटक मंडली को झाड़-पोंछ कर सुरुचि सम्पन्न लोगों की पसंद लायक बनाया। यहाँ से कई नवजागरण का संदेश देने वाले नाटकों का मंचन हुआ। राष्ट्रीय संस्कृति और सामाजिक चेतना का संस्कार करने वाले नाटकों का रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत किया गया।

रचनाएँ

राधाकृष्णदास द्वारा लिखित 'राणाप्रताप' और माधव शुक्ल द्वारा स्वयं लिखित 'महाभारत' नाटकों के मंचन ने तो धूम ही मचा दी। इससे रंगमंच की दुनिया में एक नई हलचल मची। इससे प्रोत्साहित होकर कई रंगनाटक लिखे गए। माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' (1918), बदरीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती', 'कुरुवनदहन' और 'वेनचरित', बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'प्रभास मिलन' इस समय के लिखे हुए बहुत ही प्रभावशाली नाटक थे।

नाट्य लेखन

इस युग के पौराणिक नाटकों में प्रमुख थे-

भगवान श्रीकृष्ण के चरित से संबंधित नाटक -

राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), शिवनंदन सहाय कृत 'सुदामा' (1907), बनवारीलाल कृत 'कृष्णकथा' और 'कंसवध' (1909)।

रामचरित संबंधी नाटक

रामनारायण मिश्र कृत 'जनक बाड़ा' (1906), गंगाप्रसाद कृत 'रामाभिषेक' (1910), गिरधरलाल कृत 'राम वनयात्रा' (1910), नारायण सहाय कृत 'रामलीला' (1911), रामगुलामलाल कृत 'धनुषयज्ञ लीला' (1912)।

पौराणिक पात्रों को लेकर लिखे गए नाटक

महावीर सिंह कृत 'नल-दमयंती' (1905), गौरचरण गोस्वामी कृत 'अभिमन्यु वध' (1906), सुदर्शनाचार्य कृत 'अनर्घ नलचरित' (1906), बांकेबिहारी लाल कृत 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट कृत 'वेणु संहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद कृत 'उर्वशी' (1910), हनुमंत सिंह कृत 'सती-चरित्र' (1910), शिवनंदन मिश्र कृत 'शकुंतला' (1911), जयशंकर प्रसाद कृत 'करुणालय' (1912), बदरीनाथ भट्ट कृत 'कुरुवन-दहन' (1915), माधव धुक्ल कृत 'महाभारत पूर्वार्ध' (1916), हरिदास माणिक कृत 'पाण्डव-प्रताप' (1917), और माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' (1918)।

इन नाटकों में चरित्रों के माध्यम से जनता को उपदेश देने का प्रयास किया गया है। नाटक कला का उपयुक्त विकास इनसे नहीं हुआ। अभिनय तत्त्व भी गौण ही है।

ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटक में गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'वीर जयमाल' (1903), वृंदावनलाल वर्मा कृत 'सेनापति उदल' (1909), बदरीनाथ भट्ट कृत 'चंद्रगुप्त' (1915), कृष्णप्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), हरिदास माणिक कृत 'संयोगिताहरण' (1915), जयशंकर प्रसाद कृत 'राज्य श्री' (1915) और परमेष्ठीदास जैन कृत 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918)।

जयशंकर प्रसाद जी के नाटक को छोड़कर किसी में इतिहास का निर्माण नहीं हो सका।

सामाजिक नाटक

सामाजिक नाटक में प्रतापनारायण मिश्र कृत 'भारत दुर्दशा' (1902), भगवती प्रसाद कृत 'वृद्ध-विवाह' (1905), जीवानंद शर्मा कृत 'भारत विजय' (1906), कृष्णानंद जोशी कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बंधु कृत 'नेत्रोन्मीलन' (1915)।

इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों को उभारने की कोशिश की गई है। इनका लक्ष्य समाज सुधार है। किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से इनका महत्व अधिक नहीं है।

रोमांचकारी नाटक

इस युग में रोमांचकारी नाटक भी लिखे गए। अलौकिक घटनाओं को केन्द्र में रखकर ये नाटक पारसी रंगमंच की शैली में लिखे गए। इसकी विषयवस्तु फारसी प्रेम कथाओं पर आधारित होती थी। कुछ रोमांचकारी नाटक पौराणिक कथाओं पर भी आधारित थे। इन नाटकों की शुरुआत 'कोरस' से होती थी। मुख्य कथा के समानान्तर एक प्रहसन भी चलता रहता था। यह दर्शकों को हंसाने के लिए होता था। इन नाटकों की भाषा उर्दू मिश्रित हुआ करती थी। बाद के दिनों में साधारण बोलचाल की भाषा का भी प्रयोग शुरु हो गया। इस श्रेणी के नाटकों की रचना में मुहम्मद मियां 'रौनक', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा मोहम्मद 'हश्र' और राधेश्याम कथावचक ने प्रमुख भूमिका निभाई।

प्रहसन नाटक

इस युग में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, रोमांचकारी, आदि विषयों के अलावा प्रहसन नाटक भी लिखे गए। बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चुंगी की उम्मीदवारी' (1912), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव कृत 'उलटफेर' (1918) और 'नोंक झोंक' (1918)।

अनुदित नाटक

अनुदित नाटक की श्रेणी में संस्कृत से सदानंद अवस्थी ने 'नागानंद' (1906), लाला सीताराम ने 'मृच्छकटिक' (1913), कविरत्न सत्यनारायण

ने 'उत्तर रामचरित' किया। अंग्रेजी से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद लाला सीताराम और चतुर्भुज औदीच्य ने किया। बंगला से ब्रजनंदन सहाय ने किया।

रामचन्द्र शुक्ल की विवेचना

'द्विवेदी युग' के नाटकों की विवेचना करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं– 'इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से यह लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथावस्तु के लिये लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। वर्तमान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करने वाली उद्भावना उनमें नहीं पाई जाती।' चूंकि इस युग में भारतेन्दु से आगे बढ़कर शिल्प और संवेदना के स्तर पर कोई नया प्रयोग तो नहीं ही हुआ, इसलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी रंगमंच की स्थापना का जो काम शुरू किया था, वह आगे न बढ़ सका। बल्कि यो कहें कि इस युग में सृजन की दृष्टि से ह्रास ही हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता की रुचि व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों की तरफ मुड़ गई।

प्रमुख कवि

इस युग के प्रसिद्ध कवियों में जिन्हें गिना जाता है, उनके नाम इस प्रकार हैं–

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
रामचरित उपाध्याय
जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'
श्रीधर पाठक
रामनरेश त्रिपाठी
मैथिलीशरण गुप्त
लोचन प्रसाद पाण्डेय
सियारामशरण गुप्त

विशेषताएँ

'द्विवेदी युग' की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं-
अशिक्षा, गरीबी, अनाचार, अत्याचार आदि से छुटकारा दिलाने की कामना।
देश प्रेम एवं राष्ट्रीयता का सन्देश।
नारी के प्रति सहानुभूति की भावना।
समाज सुधार के प्रयास।
नैतिकता एवं आर्दशवाद की पुष्टि।
सत्यम, शिवम, सुन्दरम का विधान।
मनोरम प्रकृति चित्रण।
सरल, सुबोध एवं सरस खड़ी बोली में काव्य की रचना।

व्यक्तित्व

महावीर प्रसाद द्विवेदी के कृतित्त्व से अधिक महिमामय उनका व्यक्तित्त्व है। आस्तिकता, कर्त्तव्यपरायणता, न्यायनिष्ठा, आत्मसंयम, परहित-कातरता और लोक-संग्रह भारतीय नैतिकता के शाश्वत विधान हैं। यह नैतिकता के मूर्तिमान प्रतीक थे। इनके विचारों और कथनों के पीछे इनके व्यक्तित्त्व की गरिमा भी कार्य करती थी। वह युग ही नैतिक मूल्यों के आग्रह का था। साहित्य के क्षेत्र में सुधारवादी प्रवृत्तियों का प्रवेश नैतिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण ही हो रहा था। भाषा-परिमार्जन के मूलों में भी यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा था। इनका कृतित्व श्लय है तो इनका व्यक्तित्व पूज्य। प्राचीनता की उपेक्षा न करते हुए भी इन्होंने नवीनता को प्रश्रय दिया था। 'भारत-भारती' के प्रकाशन पर इन्होंने लिखा था- "यह काव्य वर्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है"। इस युगान्तर मूल में इनका ही व्यक्तित्व कार्य कर रहा था। द्विवेदी जी ने अनन्त आकाश और अनन्त पृथ्वी के सभी उपकरणों को काव्य-विषय घोषित करके इसी युगान्तर की सूचना दी थी। यह नवयुग के विधायक आचार्य थे। उस युग का बड़े से बड़ा साहित्यकार आपके प्रसाद की ही कामना करता था। सन् 1903 ई. से 1925 ई. तक (लगभग 22 वर्ष की अवधि में) द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य का नेतृत्व किया।

आलोचक

आलोचक के रूप में 'रीति' के स्थान पर इन्होंने उपादेयता, लोक-हित, उद्देश्य की गम्भीरता, शैली की नवीनता और निर्दोषिता को काव्योत्कृष्टता की

कसौटी के रूप में प्रतिष्ठित किया। इनकी आलोचनाओं से लोक-रुचि का परिष्कार हुआ। नूतन काव्य विवेक जागृत हुआ। सम्पादक के रूप में इन्होंने निरन्तर पाठकों का हित चिन्तन किया। इन्होंने नवीन लेखकों और कवियों को प्रोत्साहित किया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त इन्हें अपना गुरु मानते हैं। गुप्तजी का कहना है कि "मेरी उल्टी-सीधी प्रारम्भिक रचनाओं का पूर्ण शोधन करके उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना द्विवेदी महाराज का ही काम था"। इन्होंने पत्रिका को निर्दोष, पूर्ण, सरस, उपयोगी और नियमित बनाया। अनुवादक के रूप में इन्होंने भाषा की प्रांजलता और मूल भाषा की रक्षा को सर्वाधिक महत्त्व दिया।

मूल्यांकन

हिन्दी साहित्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। वह समय हिन्दी के कलात्मक विकास का नहीं, हिन्दी के अभावों की पूर्ति का था। इन्होंने ज्ञान के विविध क्षेत्रों- इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान, पुरातत्त्व, चिकित्सा, राजनीति, जीवनी आदि से सामग्री लेकर हिन्दी के अभावों की पूर्ति की। हिन्दी गद्य को माँजने-सँवारने और परिष्कृत करने में यह आजीवन संलग्न रहे। यहाँ तक कि इन्होंने अपना भी परिष्कार किया। हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा एक करने के लिए (खड़ीबोली के प्रचार-प्रसार के लिए) प्रबल आन्दोलन किया। हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं को समुन्नत किया। इसके लिए इनको अंग्रेजी, मराठी, गुजराती और बंगला आदि भाषाओं में प्रकाशित श्रेष्ठ कृतियों का बराबर अनुशीलन करना पड़ता था। निबन्धकार, आलोचक, अनुवादक और सम्पादक के रूप में इन्होंने अपना पथ स्वयं प्रशस्त किया था। निबन्धकार द्विवेदी के सामने सदैव पाठकों के ज्ञान-वर्धन का दृष्टिकोण प्रधान रहा, इसीलिए विषय-वैविध्य, सरलता और उपदेशात्मकता उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ बन गयीं।

कृतियाँ

महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक देन कम नहीं है। इनके मौलिक और अनुदित पद्य और गद्य ग्रन्थों की कुल संख्या अस्सी से ऊपर है। गद्य में इनकी 14 अनुदित और 50 मौलिक कृतियाँ प्राप्त हैं। कविता की ओर महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की विशेष प्रवृत्ति नहीं थी। इस क्षेत्र में इनकी अनुदित कृतियाँ,

जिनकी संख्या आठ है, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मौलिक कृतियाँ कुल 9 हैं, जिन्हें स्वयं तुकबन्दी कहा है। इनकी समस्त कृतियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

पद्य (अनुवाद)

विनय विनोद 1889 ई.- भृतहरि के 'वैराग्य शतक' का दोहों में अनुवाद

विहार वाटिका 1890 ई.- गीत गोविन्द का भावानुवाद

स्नेह माला 1890 ई.- भृतहरि के'श्रृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद

श्री महिम्न स्तोत्र 1891 ई.- संस्कृत के 'महिम्न स्तोत्र का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद

गंगा लहरी 1891 ई.- पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगा लहरी' का सवैयों में अनुवाद

ऋतुतरंगिणी 1891 ई.- कालिदास के 'ऋतुसंहार' का छायानुवाद

सोहागरात अप्रकाशित- बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद

कुमारसम्भवसार 1902 ई.- कालिदास के 'कुमार सम्भवम' के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश।

गद्य (अनुवाद)

भामिनी-विलास 1891 ई.- पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद

अमृत लहरी 1896 ई.- पण्डितराज जगन्नाथ के 'यमुना स्तोत्र' का भावानुवाद

बेकन-विचार-रत्नावली 1901 ई.- बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद

शिक्षा 1906 ई.- हर्बर्ट स्पेंसर के 'एज्युकेशन' का अनुवाद

'स्वाधीनता' 1907 ई.- जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद

जल चिकित्सा 1907 ई.- जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद

हिन्दी महाभारत 1908 ई.-'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर

रघुवंश 1912 ई.- 'रघुवंश' महाकाव्य का भाषानुवाद

वेणी-संहार 1913 ई.- संस्कृत कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद

कुमार सम्भव 1915 ई.- कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद

मेघदूत 1917 ई.- कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद

किरातार्जुनीय 1917 ई.- भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का अनुवाद

प्राचीन पण्डित और कवि 1918 ई.- अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और पण्डितों का परिचय

आख्यायिका सप्तक 1927 ई.- अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का छायानुवाद

मौलिक पद्य रचनाएँ

देवी स्तुति-शतक 1892 ई.

कान्यकुब्जावलीव्रतम 1898 ई.

समाचार पत्र सम्पादन स्तवः 1898 ई.

नागरी 1900 ई.

कान्यकुब्ज- अबला-विलाप 1907 ई.

काव्य मंजूषा 1903 ई.

सुमन 1923 ई.

द्विवेदी काव्य-माला 1940 ई.

कविता कलाप 1909 ई.

मौलिक गद्य रचनाएँ

तरुणोपदेश (अप्रकाशित)

हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना 1901 ई.

वैज्ञानिक कोश 1906 ई.,

'नाट्यशास्त्र' 1912 ई.

विक्रमांकदेवचरितचर्चा 1907 ई.

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति 1907 ई.

सम्पत्तिशास्त्र 1907 ई.

कौटिल्य कुठार 1907 ई.

कालिदास की निरकुंशता 1912 ई.

वनिता-विलाप 1918 ई.

औद्योगिकी 1920 ई.

रसज्ञ रंजन 1920 ई.
कालिदास और उनकी कविता 1920 ई.
सुकवि संकीर्तन 1924 ई.
अतीत स्मृति 1924 ई.
साहित्य सन्दर्भ 1928 ई.
अदभुत आलाप 1924 ई.
महिलामोद 1925 ई.
आध्यात्मिकी 1928 ई.
वैचित्र्य चित्रण 1926 ई.
साहित्यालाप 1926 ई.
विज्ञ विनोद 1926 ई.
कोविद कीर्तन 1928 ई.
विदेशी विद्वान् 1928 ई.
प्राचीन चिह्न 1929 ई.
चरित चर्या 1930 ई.
पुरावृत्त 1933 ई.
दृश्य दर्शन 1928 ई.
आलोचनांजलि 1928 ई.
चरित्र चित्रण 1929 ई.
पुरातत्त्व प्रसंग 1929 ई.
साहित्य सीकर 1930 ई.
विज्ञान वार्ता 1930 ई.
वाग्विलास 1930 ई.
संकलन 1931 ई.
विचार-विमर्श 1931 ई.

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन (1923 ई.)काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किये गये अभिनन्दन (1933 ई. और प्रयाग में आयोजित 'द्विवेदी मेला', 1933 ई.) के अवसर पर इन्होंने जो भाषण दिये थे, उन्हें भी पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया है। आपकी बनायी हुई छरू बालोपयोगी स्कूली पुस्तकें भी प्रकाशित हैं।

मृत्यु

21 दिसम्बर सन् 1938 ई. को रायबरेली में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का स्वर्गवास हो गया। हिन्दी साहित्य का आचार्य पीठ अनिश्चितकाल के लिए सूना हो गया।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (का नाम खड़ी बोली को काव्य भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले कवियों में बहुत आदर से लिया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में 1890 ई. के आस-पास अयोध्यासिंह उपाध्याय ने साहित्य सेवा के क्षेत्र में पदार्पण किया।

परिवार और शिक्षा

अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म जिला आजमगढ़ के निजामाबाद नामक स्थान में सन् 1865 ई. में हुआ था। हरिऔध के पिता का नाम भोलासिंह और माता का नाम रुक्मणि देवी था। अस्वस्थता के कारण हरिऔध जी का विद्यालय में पठन-पाठन न हो सका। अतः इन्होंने घर पर ही उर्दू, संस्कृत, फारसी, बांग्ला एवं अंग्रेजी का अध्ययन किया। 1883 में ये निजामाबाद के मिडिल स्कूल के हेडमास्टर हो गए। 1890 में कानूनगो की परीक्षा पास करने के बाद आप कानून गो बन गए। सन् 1923 में पद से अवकाश लेने पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बने।

कार्यक्षेत्र

खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्यकार हरिऔध जी का सृजनकाल हिन्दी के तीन युगों में विस्तृत है-

- भारतेन्दु युग
- द्विवेदी युग
- छायावादी युग

इसीलिये हिन्दी कविता के विकास में 'हरिऔध' जी की भूमिका नींव के पत्थर के समान है। उन्होंने संस्कृत छंदों का हिन्दी में सफल प्रयोग किया है। 'प्रियप्रवास' की रचना संस्कृत वर्णवृत्त में करके जहाँ 'हरिऔध' जी ने खड़ी

बोली को पहला महाकाव्य दिया, वहीं आम हिन्दुस्तानी बोलचाल में 'चोखे चौपदे', तथा 'चुभते चौपदे' रचकर उर्दू जुबान की मुहावरेदारी की शक्ति भी रेखांकित की।

सर्वाधिक प्रसिद्धि

हरिऔध को कवि रूप में सर्वाधिक प्रसिद्धि उनके प्रबन्ध काव्य 'प्रियप्रवास' के कारण मिली। 'प्रियप्रवास' की रचना से पूर्व की काव्य कृतियाँ कविता की दिशा में उनके प्रयोग की परिचायिका हैं। इन कृतियों में प्रेम और शृंगार के विभिन्न पक्षों को लेकर काव्य रचना के लिए किए गए अभ्यास की झलक मिलती है। 'प्रियप्रवास' को इसी क्रम में लेना चाहिए। 'प्रियप्रवास' के बाद की कृतियों में 'चोखे चौपदे' तथा 'वैदेही बनवास' उल्लेखनीय हैं। 'चोखे चौपदे' लोकभाषा के प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'प्रियप्रवास' की रचना संस्कृत की कोमल कान्त पदावली में हुई है और उसमें तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। 'चोखे चौपदे' में मुहावरों के बाहुल्य तथा लोकभाषा के समावेश द्वारा कवि ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह अपनी सीधी-सादी जबान को भूला नहीं है। 'वैदेही बनवास' की रचना द्वारा एक और प्रबन्ध सृष्टि का प्रयत्न किया गया है। आकार की दृष्टि से यह ग्रन्थ छोटा नहीं है, किन्तु इसमें 'प्रियप्रवास' जैसी ताजगी और काव्यत्व का अभाव है।

प्रियप्रवास

'प्रियप्रवास' एक सशक्त विप्रलम्भ काव्य है। कवि ने अपनी इस कृति में कृष्ण कथा के एक मार्मिक पक्ष को किंचित् मौलिकता और एक नूतन दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन के उपरान्त ब्रजवासियों के विरहसन्तप्त जीवन तथा मनोभावों का हृदयस्पर्शी अंकन प्रस्तुत करने में उन्हें बहुत ही सफलता प्राप्त हुई है। संस्कृत की समस्त तथा कोमल-कान्त पदावली से अलंकृत एवं संस्कृत वर्ण वृत्तों में लिखित यह रचना खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। रामचन्द्र शुक्ल ने इसे आकार की दृष्टि से बड़ा कहा किन्तु उन्हें इस कृति में समुचित कथानक का अभाव प्रतीत हुआ और इसी अभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने इसके प्रबन्धत्व एवं महाकाव्यत्व को अस्वीकार कर दिया है। शुक्ल जी से सरलतापूर्वक सहमत नहीं हुआ जा सकता। प्रबन्ध काव्य सम्बन्धी कुछ थोड़ी-सी रूढ़ियों को छोड़ दिया जाए तो इस काव्य में प्रबन्धत्व

का दर्शन आसानी से किया जा सकता है। यह सच है कि ऊपर से देखने पर इसका कथानक प्रवास प्रसंग तक ही सीमित है, किन्तु 'हरिऔध' ने अपने कल्पना कौशल के द्वारा, इसी सीमित क्षेत्र में श्री कृष्ण के जीवन की व्यापक झाकियाँ प्रस्तुत करने के अवसर ढूँढ निकाले हैं। इस काव्य की एक और विशेषता यह है कि इसके नायक श्रीकृष्ण शुद्ध मानव रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। वे लोकसंरक्षण तथा विश्वकल्याण की भावना से परिपूर्ण मनुष्य अधिक हैं और अवतार अथवा ईश्वर नाम मात्र के।

अन्य साहित्यिक कृतित्व

हरिऔध के अन्य साहित्यिक कृतित्त्व में उनके ब्रजभाषा काव्य संग्रह 'रसकलश' को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। इसमें उनकी आरम्भिक स्फुट कविताएँ संकलित हैं। ये कविताएँ शृंगारिक हैं और काव्य-सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से लिखी गयी हैं। इन्होंने गद्य और आलोचना की ओर भी कुछ-कुछ ध्यान दिया था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय हिन्दी के अवैतनिक अध्यापक पद पर कार्य करते हुए इन्होंने 'कबीर वचनावली' का सम्पादन किया। 'वचनावली' की भूमिका में कबीर पर लिखे गए लेखों से इनकी आलोचना दृष्टि का पता चलता है। इन्होंने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' शीर्षक एक इतिहास ग्रन्थ भी प्रस्तुत किया, जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ।

विरासत

हरिऔध जी ने गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी की सेवा की। वे द्विवेदी युग के प्रमुख कवि है। उन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली में काव्य-रचना करके यह सिद्ध कर दिया कि उसमें भी ब्रजभाषा के समान खड़ी बोली की कविता में भी सरसता और मधुरता आ सकती है। हरिऔध जी में एक श्रेष्ठ कवि के समस्त गुण विद्यमान थे। 'उनका प्रिय प्रवास' महाकाव्य अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण हिन्दी महाकाव्यों में 'माइल-स्टोन' माना जाता है। श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के शब्दों में हरिऔध जी का महत्त्व और अधिक स्पष्ट हो जाता है- इनकी यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि ये हिन्दी के सार्वभौम कवि हैं। खड़ी बोली, उर्दू के मुहावरे, ब्रजभाषा, कठिन-सरल सब प्रकार की कविता की रचना कर सकते हैं।

कृतियाँ

'हरिऔध' जी आरम्भ में नाटक तथा उपन्यास लेखन की ओर आकर्षित हुए। 'हरिऔध' जी की दो नाट्य कृतियाँ 'प्रद्युम्न विजय' तथा 'रुक्मणी परिणय' क्रमशः 1893 ई. तथा 1894 ई. में प्रकाशित हुई। 1894 ई. में ही इनका प्रथम उपन्यास 'प्रेमकान्ता' भी प्रकाशन में आया। बाद में दो अन्य औपन्यासिक कृतियाँ 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (1899 ई.) और 'अधखिला फूल' (1907 ई.) नाम से प्रकाशित हुई। ये नाटक तथा उपन्यास साहित्य के उनके प्रारम्भिक प्रयास होने की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन कृतियों में नाट्यकला अथवा उपन्यासकला की विशेषताएँ ढूँढना तर्कसंगत नहीं हैं। उपाध्याय जी की प्रतिभा का विकास वस्तुतः कवि रूप में हुआ। खड़ी बोली का प्रथम महाकवि होने का श्रेय 'हरिऔध' जी को है। 'हरिऔध' के उपनाम से इन्होंने अनेक छोटे-बड़े काव्यों की सृष्टि की, जिनकी संख्या पन्द्रह से ऊपर है-

सनकाव्य

1899 ई. 'रसिक रहस्य'
1900 ई. 'प्रेमाम्बुवारिधि', 'प्रेम प्रपंच'
1901 ई. 'प्रमाम्बु प्रश्रवण', 'प्रेमाम्बु प्रवाह'
1904 ई. 'प्रेम पुष्पहार'
1906 ई. 'उदबोधन'
1909 ई. 'काव्योपवन'
1914 ई. 'प्रियप्रवास'
1916 ई. 'कर्मवीर'
1917 ई. 'ऋतु मुकुर'
1925 ई. 'पद्मप्रसून'
1927 ई. 'पद्मप्रमोद'
1932 ई. 'चोखेचौपदे'
1940 ई. 'वैदेही बनवास'
'चुभते चौपदे'
'रसकलश'

खड़ी बोली काव्य-रचना

अयोध्यासिंह उपाध्याय खड़ी बोली काव्य के निर्माताओं में आते हैं। इन्होंने अपने कवि कर्म का शुभारम्भ ब्रजभाषा से किया। 'रसकलश' की कविताओं से पता चलता है कि इस भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था, किन्तु इन्होंने समय की गति शीघ्र ही पहचान ली और खड़ी बोली काव्य-रचना करने लगे। काव्य भाषा के रूप में इन्होंने खड़ी बोली का परिमार्जन और संस्कार किया। 'प्रियप्रवास' की रचना करके इन्होंने संस्कृत गर्भित कोमल-कान्त पदावली संयुक्त भाषा का अभिजात रूप प्रस्तुत किया। 'चोखे चौपदे' तथा 'चुभते चौपदे' द्वारा खड़ी बोली के मुहावरा सौन्दर्य एवं उसके लौकिक स्वरूप की झाँकी दी। छन्दों की दृष्टि से इन्होंने संस्कृत, हिन्दी तथा उर्दू सभी प्रकार के छन्दों का धड़ल्ले से प्रयोग किया। ये प्रतिभासम्पन्न मानववादी कवि थे। इन्होंने 'प्रियप्रवास' में श्रीकृष्ण के जिस मानवीय स्वरूप की प्रतिष्ठा की है, उससे इनके आधुनिक दृष्टिकोण का पता चलता है। इनके श्रीकृष्ण 'रसराज' या 'नटनागर' होने की अपेक्षा लोकरक्षक नेता हैं।

रचनाएँ

महाकाव्य
प्रियप्रवास
वैदेही वनवास
मुक्तक काव्य
चोखे चौपदे
चुभते चौपदे
कल्पलता
बोलचाल
पारिजात
हरिऔध सतसई
उपन्यास
ठेठ हिन्दी का ठाठ
अधखिला फूल।
आलोचना
कबीर वचनावली

साहित्य सन्दर्भ
हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास।
नाटक
रुक्मणी परिणय
प्रद्युम्न विजय व्यायोग

सम्मान

जीवनकाल में इन्हें यथोचित सम्मान मिला था। 1924 ई. में इन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान पद को सुशोभित किया था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने इनकी साहित्य सेवाओं का मूल्यांकन करते हुए इन्हें हिन्दी के अवैतनिक अध्यापक का पद प्रदान किया। एक अमेरिकन 'एनसाइक्लोपीडिया' ने इनका परिचय प्रकाशित करते हुए इन्हें विश्व के साहित्य सेवियों की पंक्ति प्रदान की। खड़ी बोली काव्य के विकास में इनका योगदान निश्चित रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है तो 'हरिऔध' खड़ी बोली के प्रथम महाकवि।

मृत्यु

16 मार्च, 1947 को अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने इस दुनिया से लगभग 76 वर्ष की आयु में विदा ली।

कहें क्या बात आँखों की, चाल चलती हैं मनमानी
सदा पानी में डूबी रह, नहीं रह सकती हैं पानी
लगन है रोग या जलन, किसी को कब यह बतलाया
जल भरा रहता है उनमें, पर उन्हें प्यासी ही पाया।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' भारत के प्रसिद्ध कवियों में से एक थे। उन्हें आधुनिक युग के श्रेष्ठ ब्रजभाषा के कवियों में गिना जाता है। प्राचीन संस्कृति, मध्यकालीन हिन्दी काव्य, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, हिन्दी, आयुर्वेद, संगीत, ज्योतिष तथा दर्शनशास्त्र इन सभी की अच्छी जानकारी जगन्नाथदास जी को थी। इन्होंने प्रचुर साहित्य सेवा की थी। ब्रजभाषा काव्यधारा के अंतिम सर्वश्रेष्ठ कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आधुनिक हिंदी साहित्य में अनुभूतियों के सशक्त

चित्रकार, ब्रजभाषा के समर्थ कवि और एक अद्वितीय भाष्यकार के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने खड़ी बोली के युग में जीवित व्यक्ति की तरह हृदय के प्रत्येक स्पंदन को महसूस करने वाली ब्रजभाषा का आदर्श खड़ा किया, जिसके हर शब्द की अपनी गति और लय है।

जीवन परिचय

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म संवत 1923 (1866 ई.) में भाद्रपद शुक्ल पक्ष पंचमी को काशी (वर्तमान बनारस) के शिवाला घाट मोहल्ले में हुआ था। इनके पिता पुरुषोत्तमदास दिल्ली वाले अग्रवाल वैश्य थे और पूर्वज पानीपत के रहने वाले थे, जिनका मुगल दरबारों में बड़ा सम्मान था। लेकिन परिस्थितिवश उन्हें काशी आकर रहना पड़ा। पुरुषोत्तमदास फारसी भाषा के अच्छे विद्वान् थे और हिन्दी फारसी कवियों का बड़ा सम्मान करते थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र उनके मित्र थे और इनके यहाँ बहुधा आया-जाया करते थे। रत्नाकर जी ने बाल्यावस्था में भारतेंदु हरिश्चंद्र का सत्संग भी किया था। भारतेंदु जी ने कहा भी था कि, 'किसी दिन यह बालक हिन्दी की शोभा वृद्धि करेगा'।

शिक्षा

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के रहन-सहन में राजसी ठाठ-बाट था। इन्हें हुक्का, इत्र, पान, घुड़सवारी आदि का बहुत शौक था। हिन्दी का संस्कार उन्हें अपने हिन्दी-प्रेमी पिता से मिला था। स्कूली शिक्षा में उन्होंने कई भाषाओं का ज्ञान अर्जित किया। काशी के क्वींस कॉलेज से रत्नाकर जी ने सन 1891 ई. में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की, जिसमें अंग्रेजी के साथ दूसरी भाषा फारसी भी थी। ये फारसी में एम.ए. की परीक्षा देना चाहते थे, पर कुछ कारणों से न दे सके।

जीविकोपार्जन

जगन्नाथदास जी ने 'जकी' उपनाम से फारसी में कविताएँ लिखना प्रारंभ किया। इस सम्बन्ध में इनके उस्ताद मुहम्मद हसन फायज थे। जब रत्नाकर जी जीविकोपार्जन की तरफ मुड़े तो वे अबागढ़ के खजाने के निरीक्षक नियुक्त हुए। सन 1902 में वे अयोध्या नरेश के निजी सचिव नियुक्त हुए, किन्तु सन 1906 में महाराजा का स्वर्गवास हो गया। लेकिन इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर महारानी जगदंबा देवी ने इन्हें अपना निजी सेक्रेटरी नियुक्त किया तथा मृत्युपर्यन्त

रत्नाकर जी इस पद पर रहे। अयोध्या में रहते हुए जगन्नाथदास रत्नाकर की कार्य-प्रतिभा समय-समय पर विकास के अवसर पाती रही। महारानी जगदंबा देवी की कृपा से उनकी काव्य कृति 'गंगावतरण' सामने आई। इन्होंने हिन्दी काव्य का अभ्यास प्रारंभ किया और ब्रजभाषा में काव्य रचना की।

लेखन कार्य

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' हिन्दी लेखन की ओर उस समय प्रवृत्त हुए, जब खड़ी बोली हिन्दी को काव्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठापित करने का व्यापक अभियान चल रहा था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, पं. नाथूराम शंकर शर्मा जैसे लोग खड़ी बोली हिन्दी को भारी समर्थन दे रहे थे, लेकिन काव्य भाषा की बदलती लहर रत्नाकर जी के ब्रजभाषा-प्रेम को अपदस्थ नहीं कर सकी। वे ब्रजभाषा का आँचल छोड़कर खड़ी बोली के पाले में जाने को किसी भी तरह तैयार नहीं हुए। जब उनके समकालीन खड़ी बोली के परिष्कार और परिमार्जन में संलग्न थे, तब वे ब्रजभाषा की त्रुटियों का परिष्कार कर साहित्यिक ब्रजभाषा के रूप की साज-सँवार कर रहे थे। उन्होंने ब्रजभाषा का नए शब्दों, मुहावरों से ऐसा श्रृंगार किया कि वे सूरदास, पद्माकर और घनानंद की ब्रजभाषा से अलग केवल उनकी ब्रजभाषा बन गई, जिसमें उर्दू और फारसी की रवानगी, संस्कृत का आभिजात्य और लोकभाषा की शक्ति समा गई। जिसके एक-एक वर्ण में एक-एक शब्द में और एक-एक पर्याय में भावलोक को चित्रित करने की अदम्य क्षमता है।

कवित्त

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की संवेदनशीलता ने बचपन में ही कविता में ढलना शुरू कर दिया था। विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने उर्दू व फारसी के साथ हिन्दी में कवित्त लिखना शुरू कर दिया था। वे 'जकी' उपनाम से उर्दू शायरी करते थे। बाद में उन्होंने ब्रजभाषा काव्य को ही अपना क्षेत्र बना लिया। काव्य सृजन के साथ-साथ उन्होंने अपनी पठन रुचि को भी बराबर विकसित किया। उन्होंने साहित्य, दर्शन, अध्यात्म, पुराण-सब पढ़ डाले। रत्नाकर जी का भावों का वैभव है। उनके काव्य-विषय विशुद्ध पौराणिक हैं। आपने इन कथानकों में नवीनता भरकर उन्हें नवीन रूप प्रदान किया। उन्होंने प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य लिखे। वे विशेषतः श्रृंगार के कवि हैं, परन्तु इनके श्रृंगार में न

तो रीति काल की अफीमची मादकता है और न नायिका भेद की बारीकी ही है। इनका शृंगार भक्ति-परक होकर मर्यादित रूप में सामने आया। विशुद्ध शृंगार में भी हृदय की अनुभूतिपूर्ण भावनाओं ही का तीव्र वेग है। राधा-कृष्ण के हृदय में स्वाभाविक प्रेम के उदय पर रत्नाकर जी की कलम का एक दृष्टव्य -

आवन लगी है दिन द्वैक ते हमारे धाम,
रहे बिनु काम काज आई अरुझाई है।
कहैं रत्नाकर खिलौननी सम्हारि राखि,
बार-बार जननी चितावत कन्हाई है।
देखी सुनु ग्वारिनी किती ब्रजवासिन पै,
राधा सी न और अभिहारिन लखाई है।
हेरत ही हेरत हरयौ तौ है हमारो कछु,
काहि धौं हिरानी पै न परत जनाई है।

विरह विरहिरिनों के हृदय को विदीर्ण कर देता है। विरह-विपत्ति का झेलना अत्यंत कठिन है। इसी की अनुभूति पूर्ण अवस्था का एक उदाहरण निम्नलिखित है-

पीर सों धीर धरावत वीर, कटाक्ष हूँ कुंतल सेल नहीं है।
ज्वाल न याकी मिटे रत्नाकर, नेह कछू तिल तेल नहीं है।
जानत अंग जो झेलत हैं, यह रंग गुलाल की झेल नहीं है।
थामे थमें न बहें अंसुवा, यह रोयबो है, हंसी-खेल नहीं है।

शृंगार रस के पश्चात् जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी के काव्य में वीर रस को प्रमुख स्थान मिला है। करुण रस की सुन्दर व्यंजना 'हरिश्चंद्र' में हुई है। इसके अतिरिक्त वीभत्स तथा वात्सल्य आदि रसों का यथास्थान सफलता से चित्रण हुआ है। रत्नाकर जी को भावों के चित्रण में विशेष सफलता मिली है। क्रोध, हर्ष, उत्साह, शोक, प्रेम, घृणा आदि मानवीय व्यापारों की अभिव्यंजना रत्नाकर जी ने बड़ी सफलता से की है। आधुनिक युग के होते हुए भी रत्नाकर जी ने भक्ति काल एवं रीति काल के आदर्शों को अपनाया। इनके काव्य में भक्ति कवियों के भाव की सी भावुकता, रसमग्नता तथा रीति कालीन कवियों जैसा शब्द-कौशल तथा चमत्कार प्रियता मिलती है। इनके काव्य पर आधुनिक युग के बुद्धिवाद का भी प्रभाव है। इनकी 'उद्धवशतक', गंगावतरण', 'हरिश्चंद्र' आदि रचनायें प्राचीन युग का उच्चादर्श उपस्थित करती हैं।

भाषा-शैली

रत्नाकर जी की काव्य भाषा नवीनता से परिपूर्ण है। उन्होंने ब्रजभाषा को संयत और परिष्कृत रूप प्रदान किया है। ब्रजभाषा के अप्रचलित प्रयोगों को उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया। इस प्रकार ब्रजभाषा को खड़ी बोली के समान प्रतिष्ठित करने का उनका सराहनीय प्रयास रहा। उनकी शब्द योजना सर्वथा दोष मुक्त है। भाषा क्लिष्ट भावों की चेरी बन कर चलती है। इसमें इतनी सरलता और स्वाभाविकता है कि भावों को समझने में कठिनाई नहीं पड़ती। भाषा में ओज और माधुर्य गुण मिलता है। इसमें कहीं भी शिथिलता नहीं है। अनुप्रास योजना भाषा को स्वाभाविकता प्रदान करती है। रत्नाकर जी की कविता में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग खुलकर हुआ है, परन्तु इससे उनकी भाषा में कृत्रिमता और शिथिलता नहीं आने पायी। साहित्यिक स्वरूप में घनानंद की भाषा ही रत्नाकर जी की भाषा की समता कर सकती है। रत्नाकर जी को 'आधुनिक ब्रजभाषा का पद्माकर' कहा जा सकता है। उन्होंने जिस शैली को अपनाया, उसमें मानवीय व्यापारों को सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है। उनकी शैली में सर्वत्र ही कलात्मकता और स्वाभाविकता मिलती है।

कृतियाँ

राजनीतिक उलझनों और कचहरी के मामलों में उनके काव्य-सृजन को मनमाना विस्तार भले ही न मिल पाया हो, लेकिन व्यस्तता के बावजूद उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य संपदा की वृद्धि करने वाली कृतियाँ रचीं। इनके द्वारा रचित, सम्पादित तथा प्रकाशित कृतियाँ इस प्रकार हैं-

1. हरिश्चंद्र (खंडकाव्य)
2. गंगावतरण (पुराख्यान काव्य)
3. उद्धवशतक (प्रबंध काव्य)
4. हिंडोला (मुक्तक)
5. कलकाशी (मुक्तक)
6. समालोचनादर्श (पद्यनिबंध)
7. श्रृंगारलहरी
8. गंगालहरी
9. विष्णुलहरी (मुक्तक)
10. रत्नाष्टक (मुक्तक)

11. वीराष्टक (मुक्तक)
12. प्रकीर्णक पद्यावली (मुक्तक संग्रह)।

साहित्यिक लेख और ऐतिहासिक लेख

1. रोला छंद के लक्षण
2. महाकवि बिहारीलाल की जीवनी
3. बिहारी सतसई संबंधी साहित्य
4. साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री
5. बिहारी सतसई की टीकाएँ
6. बिहारी पर स्फुट लेख।
7. महाराज शिवाजी का एक नया पत्र
8. शुगवंश का एक शिलालेख
9. शुंग वंश का एक नया शिलालेख
10. एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति
11. एक प्राचीन मूर्ति
12. समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व
13. घनाक्षरी निय रत्नाकर
14. वर्ण
15. सवैया
16. छंद
17. सुधासागर (प्रथम भाग)
18. कविकुल कंठाभरण
19. दीपप्रकाश
20. सुंदरश्रृंगार
21. नृपशंमुकृत नखशिख
22. हम्मीर हठ
23. रसिक विनोद
24. समस्यापूर्ति (भाग 1)
25. हिततरंगिणी
26. केशवदासकृत नखशिख
27. सुजानसागर

28. बिहारी रत्नाकर
29. सूरसागर।
30. 'हिंडोल'
31. 'हरिश्चंद्र'
32. 'गंगावतरण'
33. 'उद्धवशतक'
34. 'कलकाशी'
35. 'समस्यापूर्ति'
36. 'जयप्रकाश'
37. 'सर्वस्व'
38. 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर'
39. 'गंगा विष्णु लहरी'
40. 'रत्नाष्टक'
41. 'वीराष्टक'
42. 'प्रकीर्ण पदावली'।

इन्होंने अंग्रेजी कवि पोप की प्रसिद्ध रचना'एस्से ऑन 'क्रिटिसिज्म' का रोला छंद में अनुवाद भी किया। इन कृतियों में' 'उद्धवशतक' और 'बिहारी रत्नाकर' को विशेष महत्व मिला। 'उद्धवशतक', 'भ्रमरगीत' परंपरा का विशिष्ट काव्य बना तो 'बिहारी रत्नाकर' ' बिहारी सतसई' पर लिखी गई कविताओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया। इनके अतिरिक्त 'हमीर हट', 'हित तरंगिणी', 'कविकुल कण्ठाभरण' नामक कृतियों का भी सम्पादन इन्होंने किया। 'साहित्य सुधा' नामक पत्र का सम्पादन भी आपने किया था। इसके साथ ही जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बहुत अधिक परिश्रम और अपना बहुत-सा धन व्यय कर 'सूरसागर' का सम्पादन भी कर रहे थे, पर उसका केवल तीन चतुर्थांश ही पूर्ण कर सके। बहुत अधिक संख्या में इनकी स्फुट रचनाएँ भी मिलती हैं। 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी ने इन स्फुट कविताओं व उक्त सभी काव्य कृतियों का एक सुन्दर संग्रह 'रत्नाकर' नामक प्रकाशित किया है।

हिन्दी साहित्य निर्माता

हिन्दी साहित्य में रत्नाकर जी एक निर्माता के रूप में स्मरण करने योग्य हैं। ये नवीन और प्राचीन को साथ लेकर चले हैं। इन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य

के तीनों काल देखे थे, पर किसी भी युग विशेष से प्रभावित नहीं हो सके। द्विवेदी युग में होने वाली खड़ी बोली के आन्दोलन ने इनको तनिक भी आकर्षित नहीं किया और ये ब्रजभाषा की उपासना-अराधना में लगे रहे। रत्नाकर जी हिन्दी के स्वर्ण-युग (मध्य युग) के पुजारी थे।

साहित्यिक विशेषताएँ

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भक्ति काल की भाव प्रवणता और रीति काल की शृंगारिकता को अपनी कविता के नए बाने में सजाया। उन्होंने भक्ति भावना से समन्वित कविताएँ भी लिखीं, वीरों के वृत्तांत भी लिखे, नीति को भी कविता में उतारा, लेकिन उनका मन मूलतः शृंगारिकता की अभिव्यक्ति में ही अधिक रमा है और इस शृंगारिकता की खूबी यह रही कि इसके अंतर्गत भक्ति, स्नेह, प्रेम, वात्सल्य सभी का समाहार हो गया। उनका ग्रंथ'उद्धवशतक' मानव मन की अद्‌भुत चित्रशाला बनकर सामने आया।शृंगार रस के निरूपण में उनका कोई भी समकालीन उनके समक्ष खड़ा नहीं किया जा सकता।शृंगार के दोनों पक्षों के निरूपण में जगह-जगह तीव्र भावावेश के क्षणों में ऐसा लगता है मानो कवि स्वयं ही द्रवीभूत होकर कविता बन उपस्थित हुआ हो। भाव-चित्रों के इस शिल्पी ने 'उद्धवशतक' में अनुभवों की योजना, मूक मौन व्यजंना और रससिक्त मर्मस्पर्शी सूक्तियों का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस कृति का ताना-बाना भावुकता के अतिरेक से पैदा होने वाले कृतिम उद्वेग से नहीं, बल्कि हृदय की सच्ची पुकार से बुना गया है, जहाँ विरहणी ब्रजांगनाओं के आँसुओं में प्रेम की स्निग्धता, अनुभूति की आर्द्रता उनके विश्वास में संयम की धार भी है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अपनी कृतियों से सामर्थ्य का झंडा ऊँचा कर दिखाया है, जिसमें शब्द और अर्थ एक हो गये हैं, जहाँ शब्द अपने आप बोलते हैं, मानो शब्द का अर्थ-विधान ही अपने पट खोलता चलता हो। उन्होंने अलंकारों के बड़े ही संतुलित और अपेक्षित प्रयोगों द्वारा भाव-व्यजंना को उत्कर्ष दिया है। उनके सांगरूपक तो हिन्दी में विरले ही हैं। परंपरा की कई लीकों से हटकर लोकोक्तियों और मुहावरों का अलग अंदाज है। रीति काव्य परंपरा का प्रेम और ब्रजभाषा को उनकी दृष्टि की सीमा भले ही माना जाये, लेकिन यह ब्रजभाषा के प्रति अपूर्व निष्ठा थी, जो ब्रजभाषा को अपने सशक्त मानदंडो में सुरक्षित रखना चाहती थी। सामयिक आंदोलनों से परे रहकर उन्होंने ब्रजभाषा साहित्य का परिष्कार करने और मानवीय अंतर्मन का कोना-कोना झाँकने में अपनी शक्ति

लगा दी। नारी मन का कोई छोर ऐसा नहीं बचा, जिसे उनके शब्दों के कोमल और तीव्र स्पर्श ने छुआ न हो।

निधन

सन 1930, में कलकत्ता में हुए 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन,' के जगन्नाथजी अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। ब्रजभाषा के कवियों में आधुनिक कवियों के तौर पर ये सर्वथा विशिष्ट हैं। 22 जून, 1932 को इनकी मृत्यु के पश्चात् 'कविवर बिहारी' शीर्षक ग्रंथ की रचना का प्रकाशन इनके पौत्र रामकृण ने किया था। मरणोपरांत नामक 'सूरसागर' सम्पादित ग्रंथ का प्रकाशन आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के निरीक्षण में हुआ।

रामनरेश त्रिपाठी

रामनरेश त्रिपाठी प्राक्छायावादी युग के महत्त्वपूर्ण कवि थे, जिन्होंने राष्ट्रप्रेम की कविताएँ भी लिखीं। इन्होंने कविता के अलावा उपन्यास, नाटक, आलोचना, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास तथा बालोपयोगी पुस्तकें भी लिखीं। इनकी मुख्य काव्य कृतियाँ हैं- 'मिलन, 'पथिक, 'स्वप्न तथा 'मानसी। रामनरेश त्रिपाठी ने लोक-गीतों के चयन के लिए कश्मीर से कन्याकुमारी और सौराष्ट्र से गुवाहाटी तक सारे देश का भ्रमण किया। 'स्वप्न' पर इन्हें हिंदुस्तान अकादमी का पुरस्कार मिला।

जीवन परिचय

'हे प्रभो! आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए' जैसा प्रेरणादायी गीत रचकर, प्रार्थना के रूप में स्कूलों में छात्रों व शिक्षकों की वाणी में बसे, महाकवि पंडित रामनरेश त्रिपाठी साहित्य के आकाश के चमकीले नक्षत्र थे। रामनरेश त्रिपाठी का जन्म जिला जौनपुर के कोइरीपुर नामक गाँव में 4 मार्च, सन् 1881 ई. में एक कृषक परिवार में हुआ था। उनके पिता 'पंडित रामदत्त त्रिपाठी' परम धर्म व सदाचार परायण ब्राह्मण थे। पंडित रामदत्त त्रिपाठी भारतीय सेना में सूबेदार के पद पर रह चुके थे, उनका रक्त पंडित रामनरेश त्रिपाठी की रगों में धर्मनिष्ठा, कर्त्तव्यनिष्ठा व राष्ट्रभक्ति की भावना के रूप में बहता था। उन्हें अपने परिवार से ही निर्भीकता और आत्मविश्वास के गुण मिले थे। पंडित त्रिपाठी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राइमरी स्कूल में हुई। जूनियर कक्षा उत्तीर्ण कर हाई

स्कूल में वह निकटवर्ती जौनपुर जिले में पढ़ने गए मगर वह हाई स्कूल की शिक्षा पूरी नहीं कर सके। पिता से अनबन होने पर अट्ठारह वर्ष की आयु में वह कलकत्ता चले गए।

'हे प्रभो आनन्ददाता' की रचना

पंडित त्रिपाठी में कविता के प्रति रुचि प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते समय जाग्रत हुई थी। वह कलकत्ता में संक्रामक रोग हो जाने की वजह से अधिक समय तक नहीं रह सके। वह स्वास्थ्य सुधार के लिए एक व्यक्ति की सलाह मानकर जयपुर के सीकर ठिकाना स्थित फतेहपुर ग्राम में 'सेठ रामवल्लभ नेवरिया' के पास चले गए। यह एक संयोग ही था कि मरणासन्न स्थिति में वह अपने घर परिवार में न जाकर सुदूर अपरिचित स्थान राजपूताना के एक अजनबी परिवार में जा पहुँचे जहाँ शीघ्र ही इलाज व स्वास्थ्यप्रद जलवायु पाकर रोगमुक्त हो गए। पंडित त्रिपाठी ने सेठ रामवल्लभ के पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेदारी को कुशलतापूर्वक निभाया। इस दौरान उनकी लेखनी पर माँ सरस्वती की मेहरबानी हुई और उन्होंने "हे प्रभो! आनन्ददाता.." जैसी बेजोड़ रचना कर डाली जो आज भी अनेक स्कूलों में प्रार्थना के रूप में गाई जाती है।

साहित्य साधना की शुरुआत

पंडित त्रिपाठी की साहित्य साधना की शुरुआत फतेहपुर में होने के बाद उन्होंने उन दिनों तमाम छोटे-बड़े बालोपयोगी काव्य संग्रह, सामाजिक उपन्यास और हिन्दी महाभारत लिखे। उन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत के सम्पूर्ण साहित्य का गहन अध्ययन किया। पंडित त्रिपाठी ज्ञान एवं अनुभव की संचित पूंजी लेकर वर्ष 1915 में पुण्यतीर्थ एवं ज्ञानतीर्थ प्रयाग गए और उसी क्षेत्र को उन्होंने अपनी कर्मस्थली बनाया। उन्होंने थोड़ी पूंजी से प्रकाशन का व्यवसाय भी आरम्भ किया। पंडित त्रिपाठी ने गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ की तथा मौलिकता के नियम को ध्यान में रखकर रचनाओं को अंजाम दिया। हिन्दी जगत में वह मार्गदर्शी साहित्यकार के रूप में अवरित हुए और सारे देश में लोकप्रिय हो गए।

हिन्दी के प्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीय खण्डकाव्य "पथिक" की रचना उन्होंने वर्ष 1920 में 21 दिन में की। इसके अतिरिक्त उनके प्रसिद्ध मौलिक खण्डकाव्यों में "मिलन" और "स्वप्न" भी शामिल हैं। उन्होंने बड़े परिश्रम से 'कविता कौमुदी' के सात विशाल एवं अनुपम संग्रह-ग्रंथों का भी सम्पादन एवं

प्रकाशन किया। पंडित त्रिपाठी कलम के धनी ही नहीं बल्कि कर्मशूर भी थे। महात्मा गाँधी के निर्देश पर त्रिपाठी जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रचार मंत्री के रूप में हिन्दी जगत के दूत बनकर दक्षिण भारत गए थे। वह पक्के गांधीवादी देशभक्त और राष्ट्र सेवक थे। स्वाधीनता संग्राम और किसान आन्दोलनों में भाग लेकर वह जेल भी गए। पंडित त्रिपाठी को अपने जीवन काल में कोई राजकीय सम्मान तो नहीं मिला पर उससे भी कही ज्यादा गौरवपद लोक सम्मान तथा अक्षय यश उन पर अवश्य बरसा।

स्वच्छन्दतावादी कवि

रामनरेश त्रिपाठी स्वच्छन्दतावादी भावधारा के कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। इनसे पूर्व श्रीधर पाठक ने हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावाद (रोमान्टिसिज्म) को जन्म दिया था। रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी रचनाओं द्वारा उक्त परम्परा को विकसित किया और सम्पन्न बनाया। देश प्रेम तथा राष्ट्रीयता की अनुभूतियाँ इनकी रचनाओं का मुख्य विषय रही हैं। हिन्दी कविता के मंच पर ये राष्ट्रीय भावनाओं के गायक के रूप में बहुत लोकप्रिय हुए। प्रकृति-चित्रण में भी इन्हें अदभुत सफलता प्राप्त हुई है।

काव्य कृतियाँ

इनकी चार काव्य कृतियाँ उल्लेखनीय हैं-

(i) 'मिलन' (1918 ई.)

(ii) 'पथिक' (1921 ई.)

(iii) 'मानसी' (1927 ई.)

(iv) 'स्वप्न' (1929 ई.)। इनमें 'मानसी' फुटकर कविताओं का संग्रह है और शेष तीनों कृतियाँ प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य है।

खण्ड काव्य

रामनरेश त्रिपाठी ने खण्ड काव्यों की रचना के लिए किन्हीं पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथा सूत्रों का आश्रय नहीं लिया है, वरन् अपनी कल्पना शक्ति से मौलिक तथा मार्मिक कथाओं की सृष्टि की है। कवि द्वारा निर्मित होने के कारण इन काव्यों के चरित्र बड़े आकर्षक हैं और जीवन के साँचे में ढाले हुए जान पड़ते हैं। इन तीनों ही खण्ड काव्यों की एक सामान्य विशेषता यह है

कि इनमें देशभक्ति की भावनाओं का समावेश बहुत ही सरसता के साथ किया गया है। उदाहरण के लिए 'स्वप्न' नामक खण्ड काव्य को लिया जा सकता है। इसका नायक वसन्त नामक नवयुवक एक ओर तो अपनी प्रिया के प्रगाढ़ प्रेम में लीन रहना चाहता है, मनोरम प्रकृति के क्रोड़ में उसके साहचर्य-सुख की अभिलाषा करता है और दूसरी ओर समाज का दु:ख-दर्द दूर करने के लिए राष्ट्रोद्धार की भावना से आन्दोलित होता रहता है। उसके मन में इस प्रकार का अन्तर्द्वंदू बहुत समय तक चलता है। अन्तत: वह अपनी प्रिया के द्वारा प्रेरित किये जाने पर राष्ट्र प्रेम को प्राथमिकता देता है और शत्रुओं द्वारा पदाक्रान्त स्वदेश की रक्षा एवं उद्धार करने में सफल हो जाता है। इस प्रकार की भावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण रामनरेश त्रिपाठी के काव्य बहुत दिनों तक राष्ट्रप्रेमी नवयुवकों के कण्ठहार बने हुए थे।

प्रकृति चित्रण

रामनरेश त्रिपाठी अपनी काव्य कृतियों में प्रकृति के सफल चितेरे रहे हैं। इन्होंने प्रकृति चित्रण व्यापक, विशद और स्वतंत्र रूप में किया है। इनके सहज-मनोरम प्रकृति-चित्रों में कहीं-कहीं छायावाद की झलक भी मिल जाती है। उदाहरण के लिए 'पथिक' की दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

"प्रति क्षण नूतन वेष बनाकर रंग-विरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।

भाषा

प्रकृति चित्र हों, या अन्यान्य प्रकार के वर्णन, सर्वत्र रामनरेश त्रिपाठी ने भाषा का बहुत ख्याल रखा है। इनके काव्यों की भाषा शुद्ध, सहज खड़ी बोली है, जो इस रूप में हिन्दी काव्य में प्रथम बार प्रयुक्त दिखाई देती है। इनमें व्याकरण तथा वाक्य-रचना सम्बन्धी त्रुटियाँ नहीं मिलतीं। इन्होंने कहीं-कहीं उर्दू के प्रचलित शब्दों और उर्दू-छन्दों का भी व्यवहार किया है-

"मेरे लिए खड़ा था दु:खियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।।
बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में"।।

कृतियाँ

उपन्यास तथा नाटक

रामनरेश त्रिपाठी ने काव्य-रचना के अतिरिक्त उपन्यास तथा नाटक लिखे हैं, आलोचनाएँ की हैं और टीका भी। इनके तीन उपन्यास उल्लेखनीय हैं-

'वीरागंना' (1911 ई.),
'वीरबाला' (1911 ई.),
'लक्ष्मी' (1924 ई.)

नाट्य कृतियाँ

तीन उल्लेखनीय नाट्य कृतियाँ हैं-

'सुभद्रा' (1924 ई.),
'जयन्त' (1934 ई.),
'प्रेमलोक' (1934 ई.)

रचनाएँ

अन्वेषण

मैं ढूँढता तुझे था, जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था, तब दीन के सदन में।।
तू 'आह' बन किसी की, मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता, संगीत में भजन में।।
मेरे लिए खड़ा था, दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था, तेरी किसी चमन में।।
बनकर किसी के आँसू, मेरे लिए बहा तू।
आँखें लगी थी मेरी, तब मान और धन में।।
बाजे बजा-बजा कर, मैं था तुझे रिझाता।
तब तू लगा हुआ था, पतितों के संगठन में।।
मैं था विरक्त तुझसे, जग की अनित्यता पर।
उत्थान भर रहा था, तब तू किसी पतन में।।
बेबस गिरे हुओं के, तू बीच में खड़ा था।

मैं स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरन में।।
तूने दिया अनेक अवसर न मिल सका मैं।
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में।।
तेरा पता सिकंदर को, मैं समझ रहा था।
पर तू बसा हुआ था, फरहाद कोहकन में।।
क्रीसस की 'हाय' में था, करता विनोद तू ही।
तू अंत में हंसा था, महमुद के रुदन में।।
प्रहलाद जानता था, तेरा सही ठिकाना।
तू ही मचल रहा था, मंसूर की रटन में।।
आखिर चमक पड़ा तू गाँधी की हड्डियों में।
मैं था तुझे समझता, सुहराब पीले तन में।
कैसे तुझे मिलूँगा, जब भेद इस कदर है।
हैरान होके भगवन, आया हूँ मैं सरन में।।
तू रूप कै किरन में सौंदर्य है सुमन में।
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।।
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुस्लिमों में।
तू प्रेम क्रिश्चियन में, तू सत्य है सुजन में।।
हे दीनबंधु ऐसी, प्रतिभा प्रदान कर तू।
देखूँ तुझे दृगों में, मन में तथा वचन में।।
कठिनाइयों दुःखों का, इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू, बस कष्ट के सहन में।।
दुःख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ।
ऐसा प्रभाव भर दे, मेरे अधीर मन में ।।
हे प्रभु आनंददाता
हे प्रभु आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये,
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए,
लीजिये हमको शरण में, हम सदाचारी बनें,
ब्रह्मचारी धर्म-रक्षक वीर व्रत धारी बनें,
हे प्रभु आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये...
निंदा किसी की हम किसी से भूल कर भी न करें,
ईर्ष्या कभी भी हम किसी से भूल कर भी न करें,

हे प्रभु आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये...
सत्य बोलें, झूठ त्यागें, मेल आपस में करें,
दिव्य जीवन हो हमारा, यश तेरा गाया करें,
हे प्रभु आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये...
जाये हमारी आयु हे प्रभु लोक के उपकार में,
हाथ डालें हम कभी न भूल कर अपकार में,
हे प्रभु आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये...
कीजिए हम पर कृपा ऐसी हे परमात्मा,
मोह मद मत्सर रहित होवे हमारी आत्मा,
हे प्रभु आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये...
प्रेम से हम गुरु जनों की नित्य ही सेवा करें,
प्रेम से हम संस्कृति की नित्य ही सेवा करें,
हे प्रभु आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये...
योग विद्या ब्रह्म विद्या हो अधिक प्यारी हमें,
ब्रह्म निष्ठा प्राप्त कर के सर्व हितकारी बनें,
हे प्रभु आनंददाता ज्ञान हमको दीजिये..।
वह देश कौन-सा है
मन मोहनी प्रकृति की गोद में जो बसा है।
सुख स्वर्ग-सा जहाँ है वह देश कौन-सा है।।
जिसका चरण निरंतर रतनेश धो रहा है।
जिसका मुकुट हिमालय वह देश कौन-सा है।।
नदियाँ जहाँ सुधा की धारा बहा रही हैं।
सींचा हुआ सलोना वह देश कौन-सा है।।
जिसके बड़े रसीले फल कंद नाज मेवे।
सब अंग में सजे हैं वह देश कौन-सा है।।
जिसमें सुगंध वाले सुंदर प्रसून प्यारे।
दिन रात हँस रहे है वह देश कौन-सा है।।
मैदान गिरि वनों में हरियालियाँ लहकतीं।
आनंदमय जहाँ है वह देश कौन-सा है।।
जिसके अनंत धन से धरती भरी पड़ी है।
संसार का शिरोमणि वह देश कौन-सा है।।

अन्य कृतियाँ

आलोचनात्मक कृतियों के रूप में इनकी दो पुस्तकें 'तुलसीदास और उनकी कविता' तथा 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' विचारणीय हैं। टीकाकार के रूप में अपनी 'रामचरितमानस की टीका' के कारण स्मरण किये जाते हैं। 'तीस दिन मालवीय जी के साथ' त्रिपाठी जी की उत्कृष्ट संस्मरणात्मक कृति है। इनके साहित्यिक कृतित्त्व का एक महत्त्वपूर्ण भाग सम्पादन कार्यों के अंतर्गत आता है। सन् 1925 ई. में इन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और बांग्ला की लोकप्रिय कविताओं का संकलन और सम्पादन किया। इनका यह कार्य आठ भागों में 'कविता कौमुदी' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसी में एक भाग ग्राम-गीतों का है। ग्राम-गीतों के संकलन, सम्पादन और उनके भावात्मक भाष्य प्रस्तुत करने की दृष्टि से इनका कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। ये हिन्दी में इस दिशा में कार्य करने वाले पहले व्यक्ति रहे हैं और इन्हें पर्याप्त सफलता तथा कीर्ति मिली है। 1931 से 1941 ई. तक इन्होंने 'वानर' का सम्पादन तथा प्रकाशन किया था। इनके द्वारा सम्पादित और मौलिक रूप में लिखित बालकोपयोगी साहित्य भी बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध है।

प्रसिद्धि

रामनरेश त्रिपाठी की प्रसिद्धि मुख्यत: इनके कवि-रूप के कारण हुई। ये 'द्विवेदीयुग' और 'छायावाद युग' की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में आते हैं। पूर्व छायावाद युग के खड़ी बोली के कवियों में इनका नाम बहुत आदर से लिया जाता है। इनका प्रारम्भिक कार्य-क्षेत्र राजस्थान और इलाहाबाद रहा। इन्होंने अन्तिम जीवन सुल्तानपुर में बिताया।

मृत्यु

रामनरेश त्रिपाठी ने 16 जनवरी, 1962 को अपने कर्मभूमि प्रयाग में ही अंतिम सांस ली। पंडित त्रिपाठी के निधन के बाद आज उनके गृह जनपद सुल्तानपुर में एक मात्र सभागार स्थापित है, जो उनकी स्मृतियों को ताजा करता है।

❒❒❒